नवरचना

NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

वर्ष 3, अंक 1&2, जून–दिस. 2017

A GREFI PUBLICATION

नवरचना NAVRACHNA

वर्ष 3, अंक 1&2, जून–दिस. 2017

सम्पादक

प्रोफेसर वी. पी. सिंह

सह–सम्पादक

प्रोफेसर राजेश मिश्र
प्रोफेसर प्रहलाद मिश्र
प्रोफेसर अरविन्द चौहान
प्रोफेसर परवेज अहमद अब्बासी

प्रबन्ध सम्पादक

डा. पंकज कुमार सिंह
डा. श्रीपाल चौहान
डा. राजाराम सिंह
डा. मन्जू गोयल

पुस्तक–समीक्षा सम्पादक

प्रीति तिवारी

हिन्दी भाषा सम्पादक

डा. सूर्य नारायण सिंह
डा. रचना रंजन
प्रो. सत्यपाल सिंह
डा. सुप्रिया सिंह

सम्पादकीय सलाहकार परिषद

प्रो. योगेन्द्र सिंह, दिल्ली
प्रो. हरीश दोषी, सूरत
प्रो. सुरजन सिंह शर्मा, साहिबाबाद
प्रो. जैनेन्द्र कुमार दोषी, उदयपुर
प्रो. आनन्द कुमार, दिल्ली
प्रो. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
प्रो. रणविन्दर सिंह सन्धू, अमृतसर
प्रो. कामेश्वर चौधरी, लखनऊ
प्रो. चारुलता सिंह, दिल्ली
प्रो. रघुनन्दन शर्मा, पटना
प्रो. आभा चौहान, जम्मू
प्रो. राजेश गिल, चन्डीगढ.
प्रो. अनीसा शफी, श्रीनगर
प्रो. ज्ञान प्रकाश पांडे, शिलचर
प्रो. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
प्रो. मौहम्मद सलीम, वाराणसी
प्रो. जगदीश कुमार पुण्डीर, मेरठ
प्रो. प्रदीप सिंह चूडावत, बडोदरा
प्रो. ए. पी. सिंह, वाराणसी
प्रो. खजान सिंह सांगवान, रोहतक
प्रो. ज्वाला प्रसाद पचौरी, श्रीनगर
प्रो. कमला गणेश, मुंबई
प्रो. माधव गोविन्द, दिल्ली
प्रो. आर. जी. सिंह, भोपाल
प्रो. आर. डी. मोर्य, महू
प्रो. विपुल सोमानी, सूरत
प्रो. जे. सी. पटेल, अहमदाबाद
प्रो. जय प्रकाश त्रिवेदी, आनन्द
प्रो. हेमीक्षा राव, राजकोट
प्रो. जे. पी. सिंह, पटना
प्रो. भगवान सिंह विष्ट, नैनीताल
प्रो. मनजीत चर्तुवेदी, वाराणसी
प्रो. रवि प्रकाश पांडे, वाराणसी
प्रो. तेज मल दक, उदयपुर
प्रो. सतीश कुमार शर्मा, चंडीगढ़
प्रो. रश्मि जैन, जयपुर
प्रो. अनिल भार्गव, जयपुर
प्रो. मनीष कुमार वर्मा, लखनऊ
डा. भगवती प्रसाद बडोला, धर्मशाला
डा. दिवाकर सिंह राजपूत, सागर
डा. विनीता सिंह, रांची
डा. स्मिता सुरेश अवाचार, ओरंगाबाद
डा. पद्मा रानी, मणिपाल
डा. आशुतोष व्यास, चित्तौड़गढ़
डा. राज कुमार कायस्थ, शिमला
डा. नीना रोजी केलहन, अमृतसर
डा. मौ. अकरम, अलीगढ.
डा. वाई. एस. भदौरिया, लखनऊ
डा. विशेष कुमार गुप्ता, मुरादाबाद
डा. श्रुति सिंह, दिल्ली
डा. रविन्द्र बंसल, बरेली
डा. महेश शुक्ला, रीवा
डा. मनु गौराहा, उज्जैन
डा. लता कुमार, मेरठ
डा. मानवेन्द्र प्रताप सिंह, गोरखपुर
डा. अय्यूब खान, ग्वालियर
डा. आशीष सक्सेना, इलाहाबाद
डा. इति तिवारी, इलाहाबाद
डा. प्रमोद कुमार शर्मा, रायपुर
डा. सर्वेश दत्त त्रिपाठी, दिल्ली

ISSN No. 2454-2458 *@ NAVRACHNA* *www.grefiglobal.org*

नवरचना NAVRACHNA

एक विशेषज्ञ समीक्षित समाजशास्त्रीय शोध पत्रिका

ISSN NO. 2454–2458

वर्ष 3 | अंक 1–2 | 2017

अनुक्रमणिका

शोध लेख

उत्तर–आधुनिकताः तरल आधुनिकता के रुप में 3
वीरेन्द्र पाल सिंह

सूचना क्रान्ति–मीडिया और स्त्री की छवि 22
मंजू नावरिया

महिला सशक्तीकरण का यथार्थ : संस्कृति एवं संचार 29
अरुण कुमारी सिंह

भारतीय मुस्लिमों में सामाजिक संस्तरण 33
परवेज अहमद अब्बासी

वैश्वीकरण : सिद्वान्त व अवधारणाएं 37
श्रीपाल चौहान

आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता और वैश्वीकरण पर गिडिन्स के विचार 45
प्रीति तिवारी

भारतीय अर्थव्यवस्था में खाद्य सुरक्षा का महत्व 57
स्वीटी जैन

भारत में चीनी उद्योग में श्रमिकों की स्थिति व कार्यदशाएं 60
छाया

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 3–20

उत्तर–आधुनिकता : तरल आधुनिकता के रुप में

वीरेन्द्र पाल सिंह*

पिछले कुछ दशकों से समाज विज्ञान के क्षेत्र में इस विचार पर एक गम्भीर परिचर्चा है कि क्या आधुनिक समाज समाप्ति की ओर अग्रसर है? तथा इसके स्थान पर एक नवीन सामाजिक संरचना का उदय हो रहा है। फ्रांसिसी वास्तुविद ल्योटार्ड (1984) ने सर्वप्रथम यह घोषणा कर डाली कि आधुनिकता अब समाप्त हो रही है तथा उत्तर–आधुनिकता का आगमन हो रहा है। इसके पश्चात 1980 के दशक में उत्तर–आधुनिकतावाद की एक लहर ने प्रायः सभी विषयों को अपने आगोश में ले लिया तथा इस पर गम्भीर परिचर्चाएं प्रारम्भ हो गयीं। समाजशास्त्र में भी इस विषय पर अनेकों विद्वानों ने गम्भीर सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किये है जिनमें एन्थोनी गिडिन्स (1990), स्कॉट लैश (1990), उलरिक बैक (1992), जिगमंट बौमेन (2000, 2012) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में जिगमंट बौमेन की तरल आधुनिकता के अवधारणात्मक प्रारुप का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो उत्तर–आधुनिकता तथा वैश्वीकरण जैसे जटिल विषयों की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

जिगमंट बौमेन का जन्म 19 नवम्बर 1925 पोलेंड के पोजनान (Poznan) शहर में एक यहूदी परिवार में हुआ था। जब 1939 में पोलेंड पर जर्मनी ने आक्रमण किया तो उसके परिवार ने सोवियत संघ में जाकर शरण ली। जहाँ वह 19 वर्ष की आयु में सोवियत संघ द्वारा नियन्त्रित पोलिश सेना मे भर्ती हो गये, वहाँ उन्होंने राजनीतिक प्रशिक्षक के रुप में कार्य करत हुए कोलबर्ग तथा बर्लिन के युद्ध में भाग लिया। वर्ष 1953 में उन्हें सेना से पदमुक्त कर दिया गया। सैन्य सेवा के दौरान ही उन्होंने वारसा एकेडमी ऑफ पॉलिटिकल एण्ड सोशल सांइस में समाजशास्त्र का अध्ययन किया। उनके पिता एक यहूदीवादी (Zionist) थे तथा वे इजराइल में जाना चाहते थे। यद्यपि बौमेन 'एन्टी–जियोनिस्ट' थे तथा वे अपने पिता के विचारों से असहमति रखते थे, परन्तु फिर भी इस कारण से उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। बेरोजगारी के दौरान उन्होंने एम०ए पास किया तथा 1954 मे वारसा यूनिवर्सिटी में समाजशास्त्र के प्रवक्ता पद पर कार्यरत हो गए। जहाँ उन्होंने 1968 तक कार्य किया। उन्होंने राबर्ट मेकेन्जी के निर्देशन में लंदन स्कूल आफ इकोनामिक्स में ब्रिटिश समाजवादी आंदोलन पर एक विस्तृत अध्ययन किया तथा 1959 में अपनी पहली पुस्तक पोलिश भाषा में प्रकाशित की। 1964 में उनकी एक पुस्तक *एवरी डे सोशियोलाजी* ने पोलैन्ड में काफी ख्याति अर्जित की। जिसे

---

*प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, वैश्वीकरण एवं विकास अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद– 211002 उ. प्र.।

बाद में उन्होंने अंग्रेजी भाषा की पाठ्य पुस्तक–*थिंकिंग सोशियोलाजिकली* (1990) प्रकाशित की। प्रारम्भ में बोमेन रुढ़िवादी मार्क्सवादी विचारधारा के निकट थे, परन्तु बाद में एन्टोनियो ग्राम्शी तथा जार्ज जिम्मल के विचारों से काफी प्रभावित हुए, और वे पोलैन्ड की कम्यूनिस्ट सरकार के आलोचक बन गए। इस कारण से उन्हें हैबिलिटेशन (Habilitation) पूरा करने के बाद भी प्रोफेसर के पद से वंचित रखा गया। 1968 में उन्हें वारसा यूनिवर्सिटी के पद से हटा दिया गया। इसके पश्चात उन्होंने अपनी पोलिश नागरिकता को त्याग दिया तथा इजराइल में तेल अवीव यूनिवर्सिटी में अध्यापन कार्य के लिए चले गए। तत्पश्चात वे लीड यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर के पद को स्वीकृत करके इंग्लैन्ड चले गए, जहां उन्होंने अपने सारे कार्य केवल अंग्रेज़ी भाषा (जो उनकी तीसरी भाषा थी) में प्रकाशित किए। धीरे–धीरे समाजशास्त्र में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, विशेष रुप से पहले उनकी उत्तर–आधुनिकता सम्बन्धी रचनाओं के कारण। बाद में एन्टी–ग्लोबलाइजेशन मूवमेंट को महत्वपूर्ण तरीके से प्रभावित करने के कारण वे विश्व के अग्रणी समाजशास्त्रियों में गिने जाने लगे। उन्होंने 57 पुस्तकें तथा 100 से अधिक रिसर्च पेपर लिखे हैं। उनका प्रमुख कार्य वैश्वीकरण, आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता, उपभोक्तावाद तथा नैतिकता आदि विषयों पर है। 9 जनवरी, 2017 को उनकी मृत्यु हो गई। बाद के वर्षों में उन्होंने तरल आधुनिकता (Liquid Modernity) के विभिन्न पक्षों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

1980 के दशक के अन्त तथा 1990 दशक के प्रारम्भिक वर्षों में बोमैन ने कई पुस्तके प्रकाशित की जिनमे उन्होंने आधुनिकता, नौकरशाही, तार्किकता तथा सामाजिक विस्थापन जैसे विषयों का विश्लेषण किया, तथा यह विचार प्रस्तुत किया कि यूरोपीय समाज बढ़ती हुई व्यैक्तिक सुरक्षा के लाभ प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता के एक स्तर को त्यागने के लिए सहमत हो गया है जिसका विकास यूरोपीय समाज में आधुनिकता के काल में हुआ था। उनका यह मानना है कि आधुनिकता, जिसे उन्होंने बाद में एक 'ठोस' स्वरुप माना है, अजनबीपन व अनिश्चिताओं को समाप्त कर देती थी। इसमें प्रकृति के उपर नियंत्रण, सोपानक्रमवादी नौकरशाही नियम, निर्देश नियंत्रण तथा श्रेणीकरण आदि सम्मिलित थे। इन सभी ने धीरे–धीरे व्यक्तिगत सुरक्षाओं को समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया तथा मानव जीवन के अराजक पक्षों को पूर्ण व्यवस्थित तथा प्रचलित कर दिया। अपनी बाद की पुस्तकों उन्होंने यह विचार विकसित किया कि इस तरह की व्यवस्था बनाने की प्रक्रिया अपेक्षित परिणामों को पाने मे असफल रही। जब हमारा सामाजिक जीवन परिचित तथा प्रबंधनीय श्रेणियों में संगठित हो जाता है तो हमेशा कुछ ऐसे सामाजिक समूह होते है जिन पर शासन नहीं किया जा सकता। जिनको अलग तथा नियंत्रित भी नहीं किया जा सकता, अपनी पुस्तक 'माडर्निटी एण्ड एम्बीवेलेन्स' में ऐसे अनिश्चित को उन्होंने 'अजनबी'(Stranzer) की संज्ञा दी।

जार्ज जिम्मेल के समाजशास्त्र तथा जैक्विस डेरीडा के दर्शनशास्त्र को आधार बनाते हुए बोमैन ने इस 'अजनबी' को एक ऐसे व्यक्ति के रुप में चित्रित किया है जो उपस्थित तो है पर समाज का यह अनिर्णीय व्यक्ति फिर भी अपरिचित है। इस पुस्तक में बोमैन ने उन सभी उपागमों का विवरण देने का प्रयास किया है जो आधुनिक समाज इस अजनबी के प्रति अपनाता है, उनका तर्क है कि एक ओर उपभोक्ता–उन्मुख अर्थव्यवस्था में अजनबी तथा अपरिचित हमेशा मोहक होता हैः भोजन की विभिन्न शैलियों, विभिन्न फैशनों में तथा टूरिज्म में इस बात का अनुभव करना सम्भव है कि अपरिचित की मोहकता क्या है। वहीं दूसरी ओर, इस अजनबीपन का एक नकारात्मक पक्ष भी है। वह एक

संभावित लुटेरा है, वह एक ऐसा व्यक्ति है जो समाज की सीमा के बाहर है तथा समाज के लिये एक निरन्तर खतरा है।

1990 के दशक के अन्त मे बोमैन ने उत्तर आधुनिकता तथा उपभोक्तावाद पर अपने अध्ययन को केन्द्रित किया। उसने यह माना कि बीसवीं शतब्दी के उत्तार्ध में आधुनिक समाजों में एक स्थानान्तरण की एक प्रक्रिया घटित हो रही थी। इसने इसको 'उत्पादकों के समाज' से 'उपभोक्ताओं के समाज' में परिवर्तित कर दिया। बोमैन के अनुसार इस परिवर्तन ने फ्रायड के आधुनिक दुविधावाद को उल्टा कर दिया–उदाहरणार्थ, अधिक स्वतंत्रता खरीदने, उपभोग करने तथा जीवन का आनन्द लेने की स्वतत्रंता के बदले में सुरक्षा को त्याग दिया गया है। बोमैन ने इसे आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता की ओर स्थान्तरण के रुप में देखा है। सहस्राब्दी के बदलने तक बोमैन ने अपनी पुस्तकों में उत्तर आधुनिकता शब्द के चारों ओर फैले भ्रम को दूर करने का प्रयास करते हुए 'तरल' तथा 'ठोस' आधुनिकता की उपमाओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रकार से बोमैन उत्तर आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा से कहीं आगे चले जाते हैं। तरल आधुनिकता के सिद्धान्त की एक स्प्ष्ट रुपरेखा इनकी पुस्तक *लिक्विड माडर्निटी* में प्रस्तुत की गई है। तरल आधुनिकता की व्याख्या में बोमैन ने चार मूलभूत अवधारणाओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया। जिनके चारों ओर मानव दशाओं का रुढ़िवादी चिन्तन केंद्रित रहा है: मुक्ति (Emancipation), समय–स्थान (Time/Space) शून्यता , कार्य (work), तथा समुदाय (Community)। प्रस्तुत शोध पत्र में तरल आधुनिकता के इन सभी पक्षों पर विस्तृत चर्चा की गयी है।

1. मुक्ति (Emancipation)

प्रसिद्ध नवमार्क्सवादी, समाजशास्त्री हबर्ट मारक्यूज ने 1970 के दशक में अपने एक लेख 'लिबरेशन फ्राम दी एफल्यूएन्ट सोसाइटी' (1989) में यह विचार व्यक्त किया था कि अधिकतर व्यक्ति आज समाज से मुक्ति की आवश्यकता को महसूस नहीं करते तथापि वे व्यक्ति जो संख्या में बहुत कम है मुक्ति हेतु कार्य करने के लिए तैयार है तथा इनमें से अधिकतर को इस बारे में कम ही पता है कि अधिक मुक्त भविष्य वर्तमान स्थिति से किस प्रकार से अलग होगा। मारक्यूज के इस विचार को ही बोमैन आगे विकसित करते हैं। मुक्त होने का अर्थ है अभीष्ट अथवा वांछित प्रयासों में किसी रुकावट (hinderance), अवरोध (obstacle), प्रतिरोध (resistance), अथवा किसी अन्य रोक–टोक (impediment) से मुक्त महसूस करना है। इसके बाद उनका तर्क है कि अवरोध से (constraint), से मुक्त महसूस करने का अर्थ है कि अपनी इच्छाओं (अथवा, कल्पनाओं) तथा अभिलाषाओं से 'जगत (समाज) की हठीली उपेक्षा' के बीच संन्तुलन की खोज है, इस सन्तुलन को दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है कि या तो व्यक्ति अपने कार्य करने की क्षमता का विस्तार करे (स्वयं को के जुझारु इन्सान बना ले) अथवा अपनी इच्छा को सीमित कर ले।

मुक्ति की इन दो व्यूह रचनाओं के मध्य भेद करते हुए बोमैन ने दो प्रकार की स्वतंत्रताओं में भेद किया है– 1. व्यक्तिपरक मुक्ति (Subjective freedom) – कोई अपनी मुक्ति की सीमाओं को कैसे महसूस करता है तथा 2. वस्तुनिष्ठ मुक्ति (objective freedom) – किसी की वास्तव में कार्य कर सकने की क्षमता सम्बंधी। यह इस तथ्य को उजागर करता है कि व्यक्ति भले ही वस्तुनिष्ठ रुप से मुक्त न हो फिर भी वे स्वयं को मुक्त महसूस करते हैं क्योंकि या तो वे यह एहसास करने मे असफल रहते है कि वे मुक्त नहीं है अथवा वे इस डर के मारे ऐसा करते हैं क्योंकि वे मुक्ति के

विचार को पसंद नहीं करते क्योंकि मुक्ति के साथ–साथ विपत्तियाँ भी आती हैं। जो व्यक्ति को 'मुक्ति के मिश्रित आर्शीवादों' तक ले जाती हैं।

यहाँ पर बोमैन एक लंबे यात्रा वृतांत का संदर्भ देते हैं इसमें ओडिसस (ग्रीक पौराणिक कथाओं का नायक) अपनी यात्रा के दौरान एक ऐसे नाविक को अपने जाल में फंसाता है जिसे सैसी (एक जादूगरनी) अपने जादू से वराह में बदल देती है। ओडिसस एक जादुई दवा के प्रभाव से उसे पुनः नाविक में बदल देता है। परन्तु वह नाविक उसके प्रति कृतज्ञ होने के स्थान पर उससे इस परिवर्तन के विरुद्ध शिकायत करता है कि उसने ऐसा क्यों किया। वह वराह के रुप में अपने जीवन से अधिक सुखी था। इस परिवर्तन के द्वारा उसे पुनः उसी घृणापूर्ण जीवन को व्यतीत करना होगा। इस प्रकरण के आधार पर बोमैन दो प्रश्न खड़े करते हैं–

1. मुक्त होने की प्रक्रिया इतनी धीमी क्यों है।
2. जब मुक्ति हो जाती है तब यह प्रायः अभिशाप क्यों बन जाती है?

पहले प्रश्न के लिए उसका उत्तर है कि मनुष्य मुक्ति के लिए तैयार नहीं है। इस प्रकार के उत्तरों के साथ या तो अपनी मुक्ति द्वारा छले गये व्यक्तियों के प्रति दया का भाव है अथवा समुदाय में अपनी मुक्ति के अनिच्छुक व्यक्ति का जनसमुदाय के प्रति क्रोध परिलक्षित होता है इस प्रकार के उत्तरों के साथ इस बात की व्याख्या करने के प्रयास भी किए जाते हैं कि व्यक्ति मुक्त होने की आवश्यकता को महसूस क्यों नहीं करते तथा इसके लिए आधुनिक संस्कृति पर विभिन्न प्रकार के दोष मढ़ते है। जिसने (आधुनिक संस्कृति ने) 'सम्पदा' (having) को स्वभाव (being) में बदल देता है; जैसे उपेक्षित व्यक्ति का बुर्जुआवाद (embourgeoisement of the under dog) अथवा एक सांस्कृतिक उद्योग (culture industry) जो व्यक्ति में आध्यात्मिक संतुष्टि की अपेक्षा मनोरंजन की प्यास उत्पन्न करता है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर (ग्रीक कथा में नाविक का) है कि व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि यह अपने साथ विपत्तियाँ भी लाती है। इस प्रकार के उत्तर मुक्ति (freedom) की इच्छा स्वातन्त्रवादी (libertanan) अवधारणाओ की आलोचना करते है जिसकी रुपरेख चार्ल्स मूरे जैसे विद्वानों ने प्रस्तुत की है जिसमें वे 'प्रसन्नता' (happiness) को व्यक्ति की साधन–सम्पन्नता से जोड़कर देखते हैं। मूरे का तर्क है कि किसी घटना की संतुष्टि इस बात से होती है कि "मैंने इसे किया" परन्तु यह तब दोषपूर्ण हो जाती है जब अपने संसाधनों को खर्च करना जोखिम के भय को तथा ऐसी असफलता जिसमें अपील का अधिकार या सही कर पाने की सम्भावना न हो, का पूर्वाभास देता है।

इसके पश्चात बोमैन हॉब्स व डुर्कहाइम की विरासत से प्रेरणा लेकर अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि हम मुक्ति की इच्छा व स्वातन्त्रवादी अवधारणा के लाभों के बारे में संदेह रखने का अधिकार रखते हैं। यहाँ वह डुर्कहाइम के इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं कि सामाजिक दबाब की एक मात्रा वास्तव मे एक मुक्ति की शक्ति है। डुर्कहाइम के कथानुसार "व्यक्ति समाज के सामने अपने अस्तित्व का समर्पण कर देता है तथा यह समर्पण उसकी 'मुक्ति' की शर्त है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अंधी अकल्पनीय भौतिक शक्तियों से छुटकारा पाना निहित है; वह इसे (freedom) इन अंधी अकल्पनीय भौतिक शक्तियों के विरुद्ध समाज की बुद्धिमान तथा महान शक्तियों द्वारा विरोध करके प्राप्त करता है, जिसके (समाज के) संरक्षण में वह शरण लेता है। स्वयं को समाज के पक्ष में

रखकर वह, एक सीमा तक, इस (समाज) पर निर्भर भी करता है; परन्तु यह एक मुक्तिपूर्ण निर्भरता है, इसमे किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है" (डुर्कहाइम 1933:115)।

दूसरे शब्दों में, समाज के आदर्शों (norms) के सामने समर्पण करने के अलावा मुक्ति प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है। व्यक्ति को समाज की आवश्यकता मुक्त रहने के लिए पड़ती है। समाज से पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ है अपने चारों ओर स्थित उन व्यक्तियों/समूह की इच्छा के बारे में अनिर्णय तथा अनिश्चितता की एक चिर स्थायी यातना, जबकि सामाजिक दबाब द्वारा घनीभूत प्रतिमान तथा दिनचर्या हमारे सहज आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करने के साथ–साथ, हमें इन क्रियाओं को सम्पन्न करने तरीकों की सूचना प्रदान करती है, तथा इस जीवन में हमें एक निश्चितता का आभास कराती है।

अब बोमैन अपने तर्को की रुपरेखा प्रस्तुत करते है जो इस विचार का समर्थन करती है कि (समाज में) दिनचर्या का एक तत्व आवश्यक है। इसके लिए वह एरिक फ्राम की अवधारणा 'हमें निश्चितता चाहिये'; रिचर्ड सीनेट की 'चरित्र की अवधारणा', तथा गिडिन्स की 'स्वभाव' (habitus) की अवधारणा से उद्धरण लेते है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि व्यक्तियों को समाज में आदर्शों की आवश्यकता होती है। परन्तु उत्तर आधुनिक समाज में आदर्श तथा दिनचर्याएं कुछ अधिक ही कम–स्थिर है जितना कि एक समय (आधुनिक समाज में) थीं। अब वह समय आ गया है कि जब कि 'आत्म' की कोई सामाजिक परिभाषा नहीं रह गयी तथा व्यक्ति से 'स्वयं' अथवा 'आत्म' को अपनी मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञता के अर्थ में परिभाषित करने की अपेक्षा है, न कि समाज अथवा सार्वभौमिक सिद्धान्तों के आधार पर।

व्यक्ति को वे सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएं पहले ही प्रदान की जा चुकी हैं जिनकी उसने कभी कल्पना की थी तथा हमारी सामाजिक संस्थाएं व्यक्तियों को आत्म–परिभाषित करने की चिन्ताओं को सौप देने के लिए कहीं अधिक तैयार है। जबकि वे सार्वभौमिक सिद्धान्त जिन्हें कि हमारे जीवन का मार्गदर्शन करना चाहिए, कठिनाई से ही मिलते है। बोमैन कहते है कि आज मारक्यूज का 'समुदायिकतावाद के प्रति विश्वास' पुराना हो चला है क्योंकि अब ऐसा कोई भी सामाजिक पक्ष नहीं रह गया है जिसमें हम व्यक्ति को किसी अन्य मार्ग से भेज सकें, जो कुछ बच गया है वह मनोवैज्ञानिक शय्या तथा मोटल बैड (motel beds) हैं। व्यक्ति (समाज से) विस्थापित (disembedded) हो चुका है तथा उसके (समाज में) पुनः–अंतःस्थापित (re-embed) होने के लिए कोई स्थान नहीं बचा है।

कई बार ऐसा भी प्रकट किया जाता है कि समकालीन समाज आलोचकों के प्रति आदर भाव नहीं रखता। ऐसा मत यह मानकर कि 'आदर–भाव' (hospitability) का अर्थ जो क्रमिक ऐतिहासिक कालों में अपरिवर्तनीय रहा है, वर्तमान परिवर्तन की प्रकृति को समझने मे भूल कर रहे है। यहाँ पर मुख्य बिन्दु है कि समकालीन समाज (उत्तर–आधुनिक) ने 'आलोचक के प्रति आदर भाव' (hospitality to Critique) को पूर्ण रुप से एक नवीन अर्थ दे दिया है तथा आलोचनावादी विचारों तथा क्रियाओं को समायोजित करने का एक तरीका खोज लिया है, यद्यपि इस समायोजन के परिणामों के प्रति प्रभाव शून्य (immune) रहते हुए, तथा खुले–घर की नीति के परीक्षणों तथा प्रयोगों से स्वयं को अप्रभावित तथा बेदाग रखते हुए कमजोर होने की अपेक्षा और आधिक सुदृढ़ता प्राप्त कर ली है।

तरल आधुकिता के युग में समाज का आलोचकों के प्रति आदर–भाव एक 'कारवाँ–साइट' (caravan site) जैसे मोटल के प्रतिमान का पालन करता दिखता है। जहाँ पर लोग अपने–अपने कारवाँ के साथ आकर ठहरते हैं, उसकी सुविधाओं का उपभोग करते हैं। सुविधाओं में त्रुटि/कमी होने पर उसकी आलोचना भी करते है, शिकायत भी करते हैं परन्तु स्वयं उसमे सुधार करने के उद्यम नहीं करते या उसे स्वयं चलाने का प्रयास नहीं करते। अधिक असंतुष्टि की दशा में वहाँ पर भविष्य में कभी न ठहरने का निर्णय ले लेते है तथा अपने परिचितों को वहाँ न ठहरने की चेतावनी देते हैं। इस प्रकार कारवाँ साइट की संरचना व उसकी प्रबन्धन कार्यशैली इर आलोचनाओं से बहुत कम ही प्रभावित होती है। इस दृष्टान्त के माध्यम से बोमैन ने आधुनिकता के दो स्वरुपों ठोस व तरल आध ुनिकता के मध्य समाज की प्रकृति मे अन्तर करने का प्रयास किया है तथा स्पष्ट किया है कि आलोचनावादी सिद्धान्तकार (cutical throrists) विशेष रुप से एडोर्नो (Adorno) जब आलोचनावादी सिद्धान्त का निर्माण कर रहे थे उस समय समाज में अधिक से अधिक व्यक्ति समाज को अपने घर की तरह देखते थे तथा इसमें इस प्रकार से क्रिया–कलाप करते थे जैसे वे इसके स्थायी निवासी हों तथा आवश्यकता पड़ने पर इसकी संरचना तथा व्यवस्था को परिवर्तित भी कर सकते थे। परन्तु आज स्थितियां बदल गयी है। आलोचनावादी जो पहले के (ठोस) आधुनिक समाज में 'उत्पादक टाइप का आलोचक' (producer type critique) था आज के तरल आधुनिक समाज मे वह 'उपभोक्ता टाइप आलोचक' में बदल गया है। उसकी आलोचना कारवाँ साइट पर जा कर निश्चित समय तक वहाँ ठहरने वाले काफिले की आलोचना के समान होती है। बोमैन का मानना है कि यह परिवर्तन मात्र पब्लिक के स्वभाव (मूड) मे परिवर्तन के कारण नहीं है जैसा कि ज्यादातर लोग समझते है। इस परिवर्तन की जड़े काफी गहरी है; तथा वे सार्वजनिक स्थल के गहन रुपान्तरण में इसका मूल है तथा सामान्य रुप से उस तरीके से है जिसमें आधुनिक समाज कार्य करता है तथा स्वयं को स्थिर बनाये रखता है।

वह आधुनिकता का प्रकार तथा बोधन तंत्र (cognitive frame work) जो शास्त्रीय आलोचनावादी सिद्धान्त का लक्ष्य (target) था उससे बहुत भिन्न है जो आज की पीढ़ियों के जीवन–तन्त्र का निर्माण करता है। उस समय का समाज भारी (heavy), ठोस (solid), घनीभूत (condensed) तथा व्यवस्थित (systematic) था। आलोचनात्मक काल की आधुनिकता स्थानीय रुप से ऐसी अवस्था में थी जिसमें एक सर्वसत्तावाद (totalitaranism) की भी प्रवृत्ति निहित थी। उस आधुनिकता के दो महत्वपूर्ण प्रतिरुप फोर्डिस्म (Fordism) तथा वेबर द्वारा चित्रित नौकरशाही (Buraucracy) थे। जिसमें व्यक्ति की पहचान तथा सामाजिक सम्बन्ध महत्वहीन थे मानो कि वे अपने है, छातों, तथा ओवरकोट के साथ इनको भी क्लॉक रुम मे जमा करके किसी फैक्ट्री के अन्दर जा रहे हों। तथा उनके सारे क्रिया–कलाप आदेशों तथा नियमों से बंधे हो जिसका वे विरोध नहीं कर सकते थे। इस काल में नियन्त्रण के उपाय बड़ी जेल (panoptiocon) जिसमें रहने वालों की हर समय निगरानी बड़े–बड़े टावरों से की जाती हो; नेता (big brother) जिसे कभी चकमा न दिया जा सकता हो तथा जो हमेशा उत्सुक, तेज, तथा विश्वासपात्रों को पुरुस्कृत करने तथा नमकहरामों को दण्ड देने में तत्पर हो; तथा कोन्जलेगर/गुलाग (konzlager/Gulag), स्थल जहाँ मानव की आघातवर्धनीयता की (malleability) को प्रयोगशाला मे जांच की जाती थी तथा जो इस जांच मे सफल नहीं होते थे उन्हें या तो गैस चैम्बर में या जिन्दा चुनवा कर मार दिया जाता था (नाजी जर्मनी

के समय में 'कान्जलेगर' का प्रचलन था; ऐसा ही कुछ सोवियत रुस में स्टालिन के काल में मजदूरो के साथ किया गया। इन कैम्पस् को 'गुलाग' कहा जाता था) आलोचनावादी सिद्धान्तकार जो मूल रुप से मार्क्सवादी थे तथा नाजी जर्मनी को छोड़कर अमेरिका में जा बसे थे, उनकी आधुनिकता की आलोचना इस प्राधिकारवादी प्रवृत्ति की आलोचना थी। जो उस समय के ठोस आधुनिक समाजों मे प्रचुर मात्रा में थी।

जबकि तरल आधुनिकता के युग में इस प्रकार की बाधाएं न तो अस्तित्व में है और न ही उनके पुनः अस्तित्व में आनक की कोई स्मभावना ही है। तरल आधुनिकता आज से 100 वर्ष पूर्व के आधुनिक समाज से कमतर नहीं है। परन्तु दो चीजें तरल आधुनिकता युग को ठोस आधुनिक युग से भिन्न बनाती हैं;

(1) प्रारम्भिक आधुनिक भ्रम का धीरे–टूटना तथा तीव्र पतन (Gradual collapse and swift decline of early modern illusion): इस विश्वास का कि हम जिस पथ (आधुनिकता) पर अग्रसर है इसका अन्त होगा, जो कि ऐतिहासिक परिवर्तन का प्राप्य उद्देश्य है; एक पूर्णता की अवस्था कल, अगले वर्ष अथवा अगली सह्स्राब्दी में प्राप्त की जा सकेगी; कुछ अच्छा समाज, न्यानपूर्ण समाज अथवा संघर्ष मुक्त समाज की स्थापना सम्भव हैं;

(2) दूसरा मूल परिवर्तन है–आधुनिकीकृत कार्यों व कर्तव्यों का विनियमन (deregulation) तथा निजीकरण (privatization) मानवीय तर्क द्वारा किये जाने वालों को कार्यों को पहले मानव प्रजाति की सामूहिक देन तथा सम्पत्ति मे रुप में देखा जाता था; परन्तु अब इसका विखण्डीकरण होकर यह 'व्यक्तिपरक' (individualized) हो गयी है; इसे व्यक्ति को दे दिया जाता हे उसकी कुशलता व सामर्थ्य के आधार पर। यद्यपि कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से पूरे समाज में सुधार लाने का विचार पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है परन्तु इस पर दिये जाने बल मे निर्णय पूर्ण परिवर्तन व्यक्ति के आत्म की ओर हो गया है। जिसके कारण नैतिक/राजनीतिक चर्चा 'न्याय पूर्ण समाज' (Just society) के ढ़ांचे सक निकलकर 'मानव अधिकारों' पर केन्द्रित हो गयी है। आज यह व्यक्ति पर छोड़ दिया गया है कि वह अपनी जीवन सम्बन्धी समस्याओं को स्वयं हल करे अथव उसे बेहतर करे।

2. समय व स्थान (Time and Space)

आधुनिकता के अनेकों अर्थ है तथा इसके आगमन तथा प्रगति को अनेकों तथा भिन्न पहचान चिन्हों के माध्यम से खोजा जा सकता है। आधुनिक जीवन की एक विशेषता तथा इसका आधुनिक विन्यास (setting) का आधार वह भिन्नता है जिसकी वजह से आधुनिकता पहले की अवस्था से अलग है। यह विशेषता इतनी महत्वपूर्ण है कि आधुनिकता की अन्य सभी विशेषताएं इसका अनुसरण करके ही उत्पन्न हुई थीं। यह विशेषता समय (time) स्थान (space) के मध्य परिवर्तित सम्बन्ध है।

आधुनिकता तब प्रारम्भ होती है जब स्थान व समय रहन–सहन के क्रिया–कलापों से पृथक हो गये तथा इस प्रकार से ये कार्य योजना व क्रिया की सुस्पष्ट, तथा परस्पर स्वतन्त्र श्रेणियों के रुप में सिद्धान्त रुप देने के लिए तैयार हो गये। पूर्व–आधुनिक समाजों में शताब्दियों तक ये एक–दूसरे से इतना गुंथ गये थे कि जीवन के अनुभवों में इनके बीच अन्तर करना कठिन था क्योंकि ये एक स्थायी तथा प्रत्यक्ष रुप से कोमलता के साथ परस्पर गुंथे हुए थे। आधुनिकता में समय का इतिहास है, समय की 'वहन क्षमता' (carrying capacity) में निरन्तर विस्तार होने के कारण इसका इतिहास है। अर्थात स्थान के फैलाव की लम्बाई कर देना, जिसे समय की इकाईयाँ द्वारा बीतने (pass) लाँघने

(cross) ढक लेने (cover) अथवा जीत लेने (conquer) को मापना सम्भव हो गया। जब एक बार स्थान के ऊपर चलने की गति (speed of movement) मानवीय चतुरता, कल्पना, तथा साधन संपन्नता बन जाती है तो समय इतिहास का स्वरुप धारण कर लेता है।

गति का वास्तविक विचार और अधिक सुस्पष्ट रुप से त्वरण (acceleration) का विचार जब समय व स्थान के मध्य सम्बन्ध के संदर्भ में हो, इसकी भिन्नता की कल्पना करता है तथा यदि इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तनयिता न हो तो इसका मुश्किल से ही कोई अर्थ होगा। एक बार दूरी समय की इकाईयों में से गुजर जाती है तो यह तकनीकी पर, यातायात के कृत्रिम साधनों पर निर्भर हो जाती है व सभी विद्यमान, चलने की गति की परम्परागत सीमाएं, सिद्धान्त रुप से, भंग हो जाती हैं। केवल आकाश ही अब उसकी सीमा है (जिसका बाद मे प्रकाश की गति के रुप में पता चला) तथा आधुनिकता एक निरन्तर, अबाध, तथा तीव्रता से इसे प्राप्त करने का प्रयास थी। इसकी नयी–नयी प्राप्त लचक तथा व्यापकता के कारण आधुनिक समय अन्तरिक्ष की विजय में पहला तथा प्रधान हथियार बन गया।

समय व स्थान के मध्य आधुनिक संघर्ष मे, स्थान, ठोस (solid), आवेगहीन (stolid), स्थूल (unwieldy) तथा निष्क्रिय पक्ष, रक्षात्मक व अर्थहीन युद्ध मे सक्षम–समय की लचीली प्रगति मे बाध क था। जबकि समय, इस युद्ध मे सक्रिय तथा गतिमान पक्ष था, यह पक्ष हमेशा आक्रमक रहाः आक्रमणकारी, विजयी तथा उपनिवेश बनाने वाली शक्ति। चलने की गति तथा गतिशीलता के तीव्र साधनों की आधुनिक काल में शक्ति व प्रभुत्व के प्रमुख औजार के रुप में निरन्तर वृद्धि हुई।

माइकल फूको (Michel Foucault) ने नेरेमी बैन्थम के 'पैनोप्टिकान' (एक गोलनुमा आकार की जेल) के डिजाइन का आधुनिक शक्ति के एक बुरे रुपक के रुप मे प्रयोग किया है। 'पैनोप्टिकॉन' मे कैदियों को स्थान से बांध दिया जाता था तथा उनके सभी गतिविधियों को प्रतिबंधित कर दिया जाता था तथा उन्हें मोटी, गहन तथा निकट से पहरे के अन्दर रहने वाली दीवारों तक सीमित कर दिया जाता था। तथा उन्हें अपनी बिस्तर, कोठरी या कार्य–पट्टियों में स्थिर कर दिया जाता था। वे वहां चल नहीं सकते थे क्योंकि वक निगरानी में थे; सभी समय उन्हें अपने निश्चित स्थान पर ही रहना पड़ता था क्योंकि उन्हें नहीं पता था तथा पता करने का कोई मार्ग भी नहीं था, कि उनकी निगरानी करने वाले उस समय कहाँ है। क्योंकि वे अपनी इच्छा अनुसार जाने के लिए स्वतन्त्र थे। निगरानीकर्ताओं की सुविधा तथा गतिमान होने की सुविधा उनके प्रभुत्व का अधिपत्र था; कैदयों की 'स्थान के साथ बंधे रहने की मजबूरी' थी क्योंकि वह स्थान अत्याधिक सुरक्षित, तथा उनके आधीनता के बहु–स्तरीय सम्बन्धों को तोड़ना अथवा शिथिल करना असम्भव था । इस प्रकार से समय पर पूर्ण नियन्त्रण मैनेजर की शक्ति का राज था। अपने अधीनस्थों को एक स्थान पर स्थिर करके–उन्हें वहाँ से हटने के अधिकार को नकार कर तथा उनका समयबद्ध दिनचर्या जिसका पालन करने को वे बाध य थे। इस प्रकार से शक्ति के पिरामिड का निर्माण गति (velocity), यातायात के साधनों तक पहुँच, तथा इसके फलस्वरुप गतिमान होने की स्वतन्त्रता से किया गया।

'पेनिप्टकॉन' शक्ति सम्बन्ण्ध के दो पक्षों के मध्य परस्पर जुड़ाव व मुकाबले का एक प्रारुप था परन्तु इसके साथ कई मुश्किले भी थी जैसे कि यह बहुत खर्चीली व्यवस्था थी व दोनो ही पक्षों मे तनाव की स्थिति को उत्पन्न करती थी।

पिछल कुछ दशकों में व्यख्याकारों को 'इतिहास का अन्त' उत्तर आधुनिकता जैसे शब्दों तथा मानवीय सह–निवास के प्रतिमानों में तीव्र परिवर्तन को प्रकट करने की प्रवृत्ति तथा, उन सामाजिक

दशाओ में जिनमें आजकर जीवन की राजनीति की जाती है, इन सभी के पीछे एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि गतिमानता की गति को और अधिक तीव्र करने का प्रयास अपनी प्राकृतिक सीमा तक पहुँच गया है। आज शक्ति इलैक्ट्रनिक सिग्नल की गति से चल रही है तथा इसके आवश्यक निर्माण तत्वों के गतिमानता मे लगने वाला समय 'तत्कालिकता' (inbtantaneity) मे आकर सीमित हो गया है। सभी व्यवहारिक उद्देश्यों से शक्ति सही अर्थ में अपरदेशीय (exterritorial) अब यह न तो स्थान से बंधी होती है तथा न ही इसे स्थान के प्रतिरोध द्वारा सीमित किया जा सकता है। सेलुलर फोन का आगमन इस दिशा मे (स्थान–निर्भरता पर) एक आखिरी वार साबित हो सकता है; इसके आने के बाद अब टेलीफोन सॉकेट की अनिवार्यता समाप्त हो गयी है। अब इसका कोई अर्थ नहीं रह गया है कि निर्देश प्रदान करने वाले वयक्ति की लोकेशन कहाँ हैं पास में अथवा दूर में; इसी अर्थ मे, वह किसी वीरान जंगल मे है अथवा किसी सभ्य और व्यवस्थित स्थान पर। यह एक शक्ति सम्पन्न वयक्ति को सही अर्थ में अभूतपूर्व सम्भावनाएं प्रदान करता है; इससे शक्ति की 'पेनोप्टिकल' तकनीक की अनुपयुक्त तथा उत्तेजक पक्षों को समाप्त किया जा सकेगा। आधुनिकता के इतिहास वर्तमान अवस्था में जहाँ कहीं भी हो परन्तु 'पोस्ट–पेनोप्टिकल' अवस्था में तो अवश्य है। पेनेप्टिकल अवस्था में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कि प्रभारी व्यक्तियों को सदैव 'वहां पर' अथवा 'पास मे, नियन्त्रण कक्ष में उपस्थित रहना आवश्यक था। पोस्ट पेनोप्टिकल शक्ति सम्बन्धों में अब यह महत्वपूर्ण है कि शक्ति के नियन्त्रण यन्त्रों पर कार्यरत व्यक्ति, जिन पर इस सम्बन्ध में अधीनस्थ व्यक्तियों का भाग्य निर्भर है, किसी भी क्षण पहुच से बाहर हो सकते है–सर्वथा अनुपलब्धता की स्थिति में।

पेनोप्टिकान का अन्त, 'पारस्परिक अनुबंध के युग की समाप्ति' की पूर्व सूचना प्रदान करता हैः निरीक्षको व निरीक्षत के मध्य; पूंजी और श्रमिकों के मध्य; नेताओं व उनके समर्थकों के मध्य; युद्ध मे रत सेनाओं में आज शक्ति की सर्वश्रेष्ठ तकनीक है पलायन (escape), खिसक जाना (slippage), लुप्त हो जाना (elision), तथा टाल जाना (avoidance); किसी भी क्षेत्रीय बंधन/कारावास का इसकी सभी आदेश देने व उनके अनुपालन के भारी–भरकम ताम–झाम के साथ, तथा इसके परिणामों की जिम्मेदारी लेने के साथ–साथ इसके पूरे खर्च को वहन करने की जिम्मेदारी लेने की अपेक्षा प्रभावशाली अस्वीकरण (effective rejection) कर देना उचित माना जाता है। शक्ति की इस नयी तकनीक को खाड़ी युद्ध तथा युगोस्लाव युद्ध में आक्रमणकारियों द्वारा उपयोग की गयी व्यूह–रचनाओं में स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। तरल आधुनिकता के युग में युद्ध की भी एक नयी कार्य–प्रणाली ने जन्म लिया जिसका उद्देश्य किसी नये क्षेत्र को जीतना नहीं अपितु उन दीवारों को कुचल देना है जो नवीन, प्रवाही (fluid) वैश्विक शक्तियों के प्रवाह को रोकती हैं। शत्रु के सिर को कुचलने का उद्देश्य अपने स्वयं के नियमों को स्थापित करने की इच्छा तथा इस प्रकार शक्ति के दूसरे, असैनिक, हथियारोके उपयोग के लिए अभी तक बाधित, किलेबन्द, अनुपलब्ध स्थानों को खोल देना

है। आजकल युद्ध दूसरे साधनों से वैश्विक मुक्त व्यापार का विस्तार की तरह अधिक दिखायी पड़ता है।

(3) व्यैक्तिकता (Individuality)

बौमेन ने दो प्रकार के पूंजीवादों मे भेद किया हैः भारी पूंजीवाद (Heavy Capitalism) तथा हल्का पूंजीवाद। इस सम्बन्ध में उन्होंने दो संवादों की चर्चा की हैः (1) जोशुआ संवाद (Joshua Discourse) – यह संवाद पश्चिमी बौद्धिक संस्कृतियों में पिछले 2000 वर्षो से प्रचलित है तथा इसकी समय–समय पर ऐतिहासिक दशाओं के अनुसार व्याख्या की जाती रही है। इसका प्रमुख आधार अतींद्रिय तार्किकता (transcendental rationality) है; तर्क की एक एकल, सही, ईश्वरीय दृष्टि मनुष्य के द्वारा सोचने व देखने के सभी तरीकों से ऊपर उठकर है। इस संवाद मे व्यवस्था नियम है तथा अव्यवस्था एक अपवाद है'। व्यवस्था का अर्थ हैकि एकरसता (monotony), नियमितता (regularity), पुनरावृत्ति (repetitiveness) तथा पूर्वानुमेयता (predictability); किसी भी विन्यास को हम 'व्यवस्थित' तभी कहते है जब उसमें कुछ प्रघटनाएं एक प्रतिमानित तरीके से ही घटित होती है न किसी अन्य वैकल्पिक तरीके से। इस प्रकार जोशुआ संवाद के व्यवस्थित जगत एक कठोर नियन्त्रित व्यवस्था है। (2) जेनिसिस संवाद (Genesis Discourse)–जोशुआ संवाद की प्रस्थापनाओं को 1940 व 1950 के दशक मे चुनौती दी गयी तथा एक नये संवाद का उदय हुआ जिसे 'जेनिसिस संवाद' के नाम से जाना जाता है। इसकी मान्यता है कि अव्यवस्था नियम है तथा व्यवस्था अपवाद है। बौमेन का मानना है कि अभी हाल ही तक जोशुआ संवाद ही चल रहा था; परन्तु अब अधिक से अधिक जेनिसिस संवाद प्रचलन में आ रहा है। जोशुआ संवाद के प्रतिरुप के रुप मे फोर्डिज्म (Fordism) के माध्यम से आधुनिक समाज को समझा जा सकता है। जो कि अन्तिम समय तक औद्योगीकरण, संग्रहण तथा नियमन का प्रारुप माना जाता रहा है। एलेएन लिपिज़ के शब्दों मेः

"(a) combunation of forms of adjustment and expectations and contradictory behaviour by individual agents to the collective principles of the regime of accumulation.....

The industrial paradigm included the Tylorian principle of rationalization, plus constant mechanization..... based on separation of the intellectual and manual aspects of the labour...."

" यह व्यक्तियों की समन्वय, अपेक्षाओं तथा विरोधी व्यवहारों के स्वरुपों का संचयन प्रशासन के सामूहिक सिद्धान्तों की युक्ति है..... इस औद्योगिक प्रारुप मे टॉयलर के तार्किकता सिद्धान्त तथा निरन्तर मशीनीकरण सम्मिलित है.....श्रमिकों की बौद्धिक तथा शारीरिक पक्षों के पृथकीकरण पर आधारित है"

बौमेन के अनुसार फोर्डिस्ट प्रारुप में इससे भी अधिक कुछ चीजें है; यह ज्ञान–पद्धति शास्त्र की एक पूरा कार्यस्थल भी है। जिस पर एक पूरी विश्व दृष्टि को विकसित किया गया है। वह तरीका जिससे मनुष्य संसार को समझते है; सभी कालों मे वह 'प्रेक्सियोमोराफिक' (praxiomorphic) भी अवश्य होता हैः इसकी रचना का स्वरुप दिन–प्रतिदिन की जानकारी से, इससे कि लोग क्या कर सकते हैं, तथा वे इसे प्रायः किस प्रकार से करते है। फोर्डिस्ट फैक्ट्री बिना किसी सन्देह के व्यवस्था–लक्षित सामाजिक अभियांत्रिकी (order aimed social engineering) का अभी तक का सबसे उच्च कार्यसिद्धि है। कोई आश्चर्य नही कि यह उस प्रत्येक के लिए एक ऐसे रुपकीय आदर्श सिद्धान्त को स्थापित करता है जो यह समझने का प्रयास कर रहा हो कि मानवीय वास्तविकता अपने सभी स्तरों

पर किस तरह कार्य करती है वैश्विक–समाजकीय (global-societal) के साथ–साथ व्यक्तिगत जीवन मे भी। इसको आसानी से खोज पारसन्स की 'सामाजिक व्यवस्था' मे की जा सकती है जो 'मूल्यों के केन्द्रीय समूह' (central cluster of values) से शासित होता है। तथा सारत्रे को 'जीवन परियोजना' (life project) मे भी देख सकते है जो आत्म की पहचान निर्माण के जीवन पर्यन्त प्रयासों के लिए मार्गदर्शिका का कार्य करती है।

वस्तुतः फोर्ड फैक्ट्री का कोई विकल्प नहीं था अत इस प्रारुप को सभी समाजों मे स्वीकृत होने में कोई बाधा नहीं आयी तथा यह पूंजीवाद तथा समाजवाद दोनों ही विचारधाराओं के ऊपर सर्वमान्य प्रारुप बन गया। दोनों विचारधाराओं में मतभेद इसकी स्वामित्व व नियन्त्रण को लेकर है न कि औद्योगिक इकाईयों के प्रति। इस प्रकार से आधुनिक समाज की भारी, स्थूल, स्थिर जड़वत ठोस अवस्था मे फोर्डवाद उसकी आत्म चेतना थी। इस अवस्था में पूंजी, प्रबन्धन व श्रमिक सभी, अच्छे या बुरे कारणों से एक–दूसरे की संगति मे लम्बे काल तक, शायद हमेशा के लिए बने रहते– बड़ी–बड़ी इमारतों वाली फैक्ट्रियों में, भारी मशीनों तथा अपार श्रमिक शक्ति से बंधे हुए थे। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रत्येक फैक्ट्री को एक किलेनुमा आकार प्रदान कर दिया जाता था जिसमें कठोर नियन्त्रण रहता था। जहाँ उनकी व्यक्तिगत पहचान तथा सामाजिक सम्बन्ध गेट पर क्लाक रुम में अपने हैट के साथ ही जमा हो जाते थे। यह भारी पूंजीवाद आकार व प्रकार पर आसक्त था तथा इस कारण से इसने अपनी सीमाओं को भी कठोर तथा अभेदीय बना दिया था। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति अपनी आजीविका की शुरुआत फोर्ड से करता था तो यह निश्चित था कि वह जीवन पर्यन्त यहीं कार्यरत रहेगा। इस प्रकार अपनी भारी अवस्था में पूंजी तथा इसके द्वारा नियुक्त श्रमिक दोनों एक ही धरातल पर स्थिर थे।

परन्तु वर्तमान काल में, बौमेन का तर्क है कि जहाँ पूंजी की यात्रा आसान हो गयी है (capital travels light), वहीं दूसरी ओर श्रमिक वहीं का वहीं स्थिर है जैसा कि पहले था। परन्तु वह स्थल जिसे एक समय हमेशा के लिए निश्चित मान लिया गया था; अब अपनी ठोसता को खो चुका है। यदि भारी पूंजीवाद की तुलना एक ऐसे जलपोत से करें जिसके कर्मचारी उसके कैप्टन के कक्ष में जा सकते थे और उसके निर्णयों का विरोध भी कर सकते थे। नियमों मे संशोधन करा सकते थे। तो हल्के पूंजीवाद एक ऐसे वायुयान की तरह है जिसके यात्री अपने पायलट से अन्तःक्रिया नहीं कर सकते क्योंकि पायलट की केबिन खाली है; और उसका संचालन स्वचालित है।

विश्व में पूंजीवादी शासन के तहत घटनाएं मैक्स बैबर की उस अनुमानित तथा विश्वासपूर्वक भविष्यवाणी के एकदम विपरीत हुई जिसमें उन्होंने 'नौकर शाही' का चयन समाज के एक प्रारुप के रुप में किया तथा इसे तार्किक क्रिया के अवसीमिय स्वरुप के रुप में चित्रित किया। बैवर ने दो प्रकार की तार्किकताओं में भेद किया है– साधन तार्किकता (instrumental rational) तथा मूल्य– तार्किकता (value rational)। यह मूल्यपरक क्रियाओं का आधार है इसमें वे व्यवहार सम्मिलित होते हैं जो व्यक्ति के मूल्यों से प्रेरित होते है जिसमें आचार, सोन्दर्य बोध अथवा धार्मिक कृत्य सम्मिलित किये गये हैं। इन सभी क्रियाओं को आधुनिक पूंजीवाद में निम्न प्रकार की प्रक्रिया की संज्ञा देकर अप्रासंगिक व अनावश्यक माना गया है। जबकि दूसरी प्रकार की तार्किकता–साधन तार्किकता–के द्वारा वे क्रियाएं होती है जिनमें कर्त्ता किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपलब्ध साधनों में से सबसे उपयुक्त का चुनाव करता है। बेवर की नौकर शाही की अवधारणा इसी साधन–तार्किक क्रिया पर आधारित है।

बेवर की इतिहास योजना में मूल्यपरक तार्किकता का चाहे जो भी स्थान रहा हो, इस अवधारणा की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती यदि कोई वर्तमान ऐतिहासिक परिवर्तन की विषयवस्तु को समझना चाहता हो। वर्तमान का 'हल्का पूंजीवाद' बेवर के अर्थ वाली 'मूल्यपरक तार्किकता नहीं है; यहाँ तक कि भी यदि यह साधन–तार्किक व्यवस्था के आदर्श प्रारुप से विचलित भी होता है। बेबर की शैली वाली 'मूल्य परक तार्किकता' से हल्का पूँजीवाद अनेकों प्रकाशवर्ष दूर दिखायी देता है।

भारी पूंजीवाद से हल्के पूंजीवाद में परिवर्तन की प्रक्रिया ने एक स्थायी तनाव को जन्म दिया हैः परम्परागत रुप से जहाँ कर्त्ता को लक्ष्य ज्ञात था तथा वह उसे प्राप्त करने के साधनों के बारे में अनिश्चित था अब यह समस्या उलट गयी है। आज के हल्के पूंजीवादी युग में 'अनिश्चितता लक्ष्य को लेकर है' साधनों को लेकर नहीं। नयी परिस्थितियों में अटपटा यह है कि अधिकतर मानव लक्ष्यों के लिए साधन का चुनाव करने की अपेक्षा लक्ष्यों के चुनाव में दुखदायी जीवन व्यतीत करेंगे। अपने पूर्ववर्ती के विपरीत, हल्का पूंजीवाद मूल्यपरक सोन्दर्य बोध से बंधा हुआ है। रोजगार चाहिए कालम का एक अप्रमाणिक छोटा सा विज्ञापन– 'have Car, Can Travel'– जीवन की नवीन समस्याओं का सार प्रदान कर सकता है। साथ ही आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी संस्थानों तथा प्रयोगशालाओं के प्रमुखों से ऐसे प्रश्न पूछने की जिम्मेदारी सोंपकरः "We have found the solution, Now let us find a problem".- हमने हल ढूंढ लिया है, अब हमें समस्या ढूंढनी चाहिए– अथवा What can I do? मै क्या कर सकता हूँ? प्रभावी क्रिया में आ चुका है, तथा How to do best what I must or ought to do anyway? जैसे प्रश्न छोटे तथा कोहनी के बल बाहर हो जायेगें।

वे उच्च प्रशासकीय संस्थाएं जो विश्व की नियमितता तथा सीमा की सुरक्षा के कार्यों में सही और गलती देखने का कार्य करती थी वे अब परिदृश्य से बाहर है; तथा विश्व अब अनन्त सम्भावनाओं का संग्रह बन गया हैः एक ऐसा पात्र जो अभी तक उठायी गयी या छोड़ दी गयी अनगिनत सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। अब व्यक्तिगत जीवन से बहुत अधिक, यद्यपि दीर्घ व जोखिमपूर्ण, उद्यमी सम्भावनाएं है जिनको आजमाया तथा अपनाया जा सकता है। ये वह अनगिनत मौके है जिन्होंने उच्च प्रशासनिक संस्थाओं के परिदृश्य से लुप्त हो जाने के फलस्वरुप उत्पन्न खाली स्थान को भर दिया है।

उत्तर–फोर्डवादी 'द्रवीय आधुनिकता' (Fluid modernity)

विश्व, जिसमें व्यक्ति उन्मुक्तापूर्वक चुनाव करते है, किसी कुटिल 'बिग ब्रदर' से भयभीत नहीं है जो उन्हें सीमा से बाहर जाने पर दण्ड देगा। इस प्रकार के विश्व में यद्यपि किसी दयालु अथवा ध्यान रखने वाले 'बडे भाई' (Elder borther) के लिए भी स्थान नहीं है जिस पर उस समय विश्वास व निर्भर किया जा सके जब यह निर्णय लेना हो कि किन चीजों को करना अथवा रखना था तथा जो छोटे भाइयों की सुरक्षा हेतु गुण्डों के सामने आकर खड़ा हो जाये; तथा इस प्रकार अच्छे समाज के कल्पना लोक के बारे मे भी लिखा जाना बन्द हो गया। अब सब कुछ व्यक्ति पर छोड़ दिया गया है। अब यह व्यक्ति पर है कि वह स्वयं खोजे कि वह क्या करने की क्षमता रखता है; उस क्षमता का पूर्ण विकास करे, तथा उन लक्ष्यों का चुनाव करे जो उसकी क्षमता के द्वारा सबसे अच्छी तरह से प्राप्त किये जा सकते है–अर्थात उच्चतम कल्पनीय सन्तुष्टि तक। यह व्यक्ति पर है कि वह अवांछनीय (unexpected) को भी वश में करके मनोरंजक बना ले।

सम्भावनाओं से भरा विश्व एक आहार–कक्ष की मेज की भाँति है जिस पर भाँति–भाँति के व्यंजन सजा कर रखे हुए हों, जिन्हें देखकर मुँह मे पानी भर आये, तथा खाने के शौकीन इनमें से प्रत्येक का स्वाद लेना चाहेंगे। भोजन करने वाले उपभोक्ता हैं तथा उपभोक्ता के समक्ष सबसे कठिन तथा परेशान करने वाली चुनौती प्राथमिकताओं के चुनाव की आवश्यकता है। उपभोक्ता की विपदा अतिरेक से उत्पन्न होती है, न कि पसन्द की कमी से उपभोक्ता के लिए सबसे अधिक बार चिन्ता उत्पन्न करने वाला प्रश्न है–कि क्या मैंने अपने सभी साधनों का भरपूर लाभ उठाने के लिए उपयोग किया है?

भारी, फोर्डवादी पूंजीवाद कानून प्रदान करने वालों, नियमित डिजाइनरों तथा निरीक्षकों की दुनिया थी, दूसरो से निर्देशित स्त्रियों व पुरुषों की दुनिया जो दूसरों के द्वारा निर्धारित नियमों, तरीको से दूसरों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में संलग्न थे। इस कारण से यह सत्ताधारियों की दुनिया थी – उन नेताओ की जो बेहतर जानते थे तथा शिक्षक जो आपको यह बताते थे आप जो करते है उससे अच्छा कार्य–सम्पादन किस तरह से कर सकते हैं। जबकि हल्का, उपभोक्ता–उपयोगी पूंजीवाद न तो कानून–विद सत्ता को समाप्त करता है, न ही यह उन्हें अनुपयोगी बनाता है। यह मात्र उन्हें अस्तित्व में लाता है तथा अनेकों सह–अस्तित्व पूर्ण प्राधिकारियों में से किसी एक सबसे अच्छे का चुनाव करता है। इसमें प्राधिकारी अब आदेश नहीं देते अपितु वे चुनने वालों से अनुग्रह प्राप्त करते हैं; वे प्रयत्न व आकर्षित करते हैं।

'नेता' उस दुनिया का एक उप–उत्पाद था जिसका उद्देश्य एक अच्छा समाज अथवा सही तथा यथार्थ समाज था तथा जो इसके बुरे तत्वों को परिभाषित करके उन पर नियन्त्रण रखता था अथवा अयथार्थ विकल्पों को दूर रखता था। परन्तु तरल–आधुनिक विश्व में ऐसा कुछ नहीं होता। निन्दा या लानत जैसी चीजों की जिम्मेदारी समाज पर नहीं डाली जा सकतीः विमोचन तथा विनाश समान रुप से आपके द्वारा (व्यक्ति के द्वारा) रचित होते है तथा पूर्ण रुप से आपसे सम्बन्धित है– उसका परिणाम जो आप, एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रुप में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने जीवन के साथ कर रहे होते हैं।

यद्यपि फिर भी ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं दिखती जो जानने का दावा करते है तथा जिनके अनेकों अनुयायी भी हैं जो इससे सहमत है। ऐसे 'जानकार' व्यक्ति, भले ही उनकी ज्ञान–क्षमता पर सार्वजनिक रुप से संदेह न किया जाता हो, वे नेता (leaders) नहीं है; अधिक से अधिक वे उपदेशक/सलाहकार (counsellors) हो सकते हैं। ये कोंसिलर्स जो सलाह देते है उसे जीवन–नीति (life-politics) कहते है न कि विशुद्ध राजनीति। क्योंकि इस सलाहकार का कार्य व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत मामले में सलाह देना है न कि सामाजिक समूहों की समस्याओं का समाधान करना। बोमैन अनेकों उदाहरण प्रस्तुत करत हुए इस बात पर बल देते हैं कि तरल–आधुनिक विश्व मे प्रमुख केन्द्र 'व्यक्ति' है। जो एक स्वतन्त्र व उन्मुक्त जीवन जीता है, वह अपने सभी कार्यो के लिए स्वतन्त्र है और उसके परिणाम के लिए उत्तरदायी स्वयं है। यद्यपि समाज मे कुछ ऐसी संस्थाएं जैसेः कोंसिलर्स, लेखक, सेलिब्रिटी भी है जो इन व्यक्तियों के साथ अपने अनुयायी/प्रशंसक के रुप में उनसे अपने व्यक्तिगत अनुभव साझा करते है। कई व्यक्ति स्वास्थ्य सम्बन्धी सलाहें पुस्तकों, टी.वी./रेडियो पर अनौपचारिक चर्चा के कार्यक्रमों के माध्यम से/विज्ञापन कार्यक्रमों में देते है। परन्तु यह सब वे लाखों दर्शको के समक्ष यह कहते हुए साझा करते हैं कि उनकी (दर्शकों की) व्यक्तिगत

समस्याएं क्योंकि मेरी (celebrity) व्यक्तिगत समस्याओं की भांति ही है; इसलिए ये 'सार्वजनिक चर्चा' (public discussion) के लिए उपयुक्त हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे 'सार्वजनिक मुद्दे' (public issues) पर चर्चा कर रहे हैं; वे इस परिचर्चा में 'व्यक्तिगत मुद्दे' पर अपनी व्यक्तिगत हैसियत से भाग लेते हैं। परन्तु उनकी समस्या मूलतः व्यक्ति ही रहती है। सार्वजनिक मुद्दा नहीं होती। इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण मुद्दा जरगुन हैबरमास ने यह चेतावनी देते हुए उठाया है कि 'निजीवृत्त' (private sphere) पर 'सार्वजनिक वृत्त' (public sphere) द्वारा आक्रमण करके, उस पर विजय पाकर उसे उपनिवेश बनाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में बोमैन का मानना है कि वास्तविकता इसके विपरीत हैः पूर्व मे नितान्त निजी तथा सार्वजनिक रुप से चर्चा के लिए अनुपयुक्त श्रेणियों में रखे गये मुद्दों को सार्वजनिक वृत्त द्वारा उपनिवेशित कर लिया गया है। अभी जो घटित हो रहा है वह न केवल सार्वजनिक तथा निजी वृत्तों के बीच की सीमा बदलने के लिए पुर्नचर्चा है। अपितु दांव पर जो लगा है वह है सार्वजनिक वृत्त की पुर्नपरिभाषा एक ऐसे दृश्य के रुप में करना जिसमें 'व्यक्तिगत नाटक' का मंचन किया जाता है और उसे सार्वजनिक रुप से दिखाया जाता है तथा देखा जाता है। सार्वजनिक रुचि (public interest) की वर्तमान परिभाषा, जिसे मीडिया द्वारा आगे बढ़ाया जा रहा है तथा जिसको अभी भी सभी या लगभग सभी वर्गों की स्वीकृति प्राप्त नहीं है, ऐसे नाटकों को जनता या पब्लिक के सामने दिखाना एक कर्त्तव्य है तथा इसकी अदायगी को देखना जनता का अधिकार है।

जिस प्रकार से व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को अपने स्तर पर परिभाषित करते हैं तथा इनके समाधान के लिए अपने कौशल का प्रयोग करते है, तो 'सार्वजनिक मुद्दे', तथा 'सार्वजनिक रुचि' मात्र अवशिष्ट विषय बनकर रह जाते है तथा जब तक ऐसा रहता है, दर्शकों और श्रोताओं को अपने निर्णय व प्रयास पर निर्भर रहने का प्रशिक्षण दिया जाता है जबकि वे जानकारी प्राप्त कर रहे होते हैं। तथा मार्गदर्शन के लिए वे दूसरे के व्यक्तिगत जीवन को उतनी ही तत्परता व विश्वास के साथ देखेंगे जितना कि वे दृष्टाओं व उपदेशकों के पाठों, उपदेशों व सीखों की ओर इस विश्वास के साथ देखते हैं कि केवल सामूहिक रुप से सोचने, पदों के सोपान को समाप्त करके तथा उनके पद चिन्हों पर चलकर उनकी व्यक्तिगत परेशानियों को दूर अथवा सही किया जा सकता है।

काउन्सिलिंग तथा मार्गदर्शन की खोज एक प्रकार की लत है। जो अन्ततः व्यक्ति को उत्पादक से उपभोक्ता बना देती है तथा वह उपभोक्तावाद की दौड़ में सम्मिलित हो जाता है। इस विशेष दौड़ का आदर्श रुप जिसमें उपभोक्तावादी समाज का प्रत्येक सदस्य दौड़ रहा है। 'खरीदने की गतिविधि' (Activity of shopping) है। जब तक हम खरीदते रहते है हम इस दौड़ में सम्मिलित रहते हैं तथा यह केवल दुकान, सुपर बाजार अथवा डिपार्टमेंटल स्टोर तक ही सीमित नहीं है जहाँ हम शापिंग करते हैं। हम जितना दुकान के अन्दर खरीदते हैं उतना ही उसके बाहर भी। हम सड़क पर, घर पर, कार्य–स्थल पर तथा फुरसत (leisure) में, जागते हुए तथा स्वप्न में भी खरीदते है। जो कुछ भी हम करते है तथा जो कुछ भी नाम हम अपनी गतिविधियों को देते है, वह एक प्रकार की शापिंग है, एक गतिविधि जो शापिंग के सादृश आकार लेती है। वह कोड जिसमें हमारी 'जीवन नीति' (life-policy) लिखी जाती है, शापिंग की व्यवहारिकता से ही उत्पन्न होता है। शापिंग केवल खाद्य–सामग्री, जूतों, कारों, या फर्नीचर वस्तुओं की ही नहीं होती। वास्तव में हमारे जीवन में विभिन्न उपायों की खोज भी एक भिन्न प्रकार की शापिंग है। जीवन मे हमारी खुशियां हमारी व्यक्तिगत

क्षमताओं पर निर्भर करती है। जिनमें हमे अधिक सक्षम होने की आवश्यकता होती है, तथा इनमें से प्रत्येक हमें शापिंग करने के लिए आमन्त्रित करता है। हम निम्नलिखित गतिविधियों मे शापिंग करते प्रतीत होते हैः

– अपनी आजीविका के लिए आवश्यक कुशलता अर्जित करने के लिए, तथा अपने होने वाले नियोजक को सन्तुष्ट करने के साधनों के लिए कि आपमें ये कुशलताएं है; तथा इस प्रकार की छवि के लिए यह दर्शाना होगा तथा उन साधनों को अपनाना होगा जो दूसरों को यह विश्वास दिला सके कि हम वही हैं जो 'हम दर्शा रहे हैं'।

– यदि हमे नये मित्र बनाने के तरीके तथा पहले के मित्रों से जिनकी अब आवश्यकता नहीं है, उनसे पीछा छुड़ाने के तरीके;

– लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के तरीके, तथा लोगों की निगरानी से बचने के लिए तरीके,

– प्रेम से अधिक से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने के तरीके तथा प्रेमी अथवा प्रेम–सहयोगी (loved and loving partner) पर 'निर्भर होने' से बचने के लिए उपाय; प्रेमिका/प्रियतम का प्यार पाने के लिए उपाय तथा यदि एक बार प्रेम क्षीण हो जाये अथवा सम्बन्ध से आनन्द की प्राप्ति होना बन्द हो जाये, तो उस संघटन (Union) को कम कीमत अदा करके समाप्त कर देने हेतु उपाय;

– एक बरसाती दिन (में आनन्द प्राप्ति के लिए) के लिए धन बचाने के उत्तम उपायों के लिए, तथा अर्जित करने से पहले धन खर्च करने के सुविधाजनक उपाय; इस प्रकार से हमारी शापिंग सूची का कोई अन्त नहीं है। इन सभी के लिए हमें एक कुशल व अपराजित खरीदार होना पड़ेगा। अतः आज का उपभोक्तावाद अब मात्र आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने वाला नहीं रह गया है। उपभोक्तावादी समाज का परिवर्तित–अर्थ अब व्यक्त आवश्यकताओं का समूह न रह कर इच्छा हो गया है–जो 'आवश्यकता' (स्व–उत्पन्न, तथा स्व–प्रवृत्त प्रेरणा है जिसका औचित्य या कारण बताना आवश्यक नहीं होता) की अपेक्षा एक कहीं अधिक वाष्पशील (volatile) तथा क्षणिक (ephemeral), अस्पष्ट (evasive) तथा स्वेच्छाचारी (capricious) तथा आवश्यक रुप से एक असन्दर्भित तत्व है।

उपभोक्ता वाद का इतिहास इन अनुक्रमिक 'ठोस' व्यवधानों–(जो कल्पना की मुक्त उड़ान को सीमित करने तथा वास्तविकता सिद्धान्त द्वारा 'आमोद सिद्धान्त' को छोटा कर देता है) को तोड़ने व हटा देने की कहानी है। 19वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों द्वारा 'आवश्यकता' (need) को 'ठोसता' (solidity) का प्रतीक मान लिया गया था– जो दृढ़ (inflexible), स्थायी रुप से परिगत (circumscribed) तथा निश्चित है–को हटाकर 'इच्छा द्वारा विस्थापित कर दिया था। जो 'आवश्यकता' की तुलना में कहीं अधिक 'द्रव्यशील' तथा विस्तार करने की क्षमता रखती है। परन्तु अब 'इच्छा' के हटने की बारी है क्योंकि अब इसकी उपयोगिता भी समाप्त हो गयी है; उपभोक्ता की लत के वर्तमान स्तर पर पहुँच जाने के बाद एक नयी व अधिक शक्तिशाली प्रेरकत्व की आवश्यकता है जो उपभोक्ता की मांग को उपभोग–प्रस्ताव के साथ बनाये रखे। 'कामना' (wish) वह आवश्यक विकल्प है 'यथार्थ सिद्धान्त' द्वारा 'आमोद सिद्धान्त पर लगे अंकुशों से इसको पूर्णरुप से स्वतन्त्र कराने में सक्षम है। इस प्रकार से पात्र से अन्तिम गैसीय वस्तु को जारी कर दिया गया है।

उत्तर–आधुनिक समाज अपने सदस्यों को एक 'उत्पादक' की अपेक्षा 'एक' उपभोक्ता के रुप में संलग्न रखती है (बोमैन 1996)। यह विभेद बहुत मूलभूत है। एक उत्पादक भूमिका के चारों ओर

बुना गया जीवन 'नियामकों' द्वारा नियन्त्रित होता है। जिसमें व्यक्ति की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की एक निम्न–रेखा होती है साथ ही इनकी एक उच्च–सीमा भी होती है जिसकी व्यक्ति इच्छा या कामना रखता हे। इस सीमा से ऊपर जो कुछ आता है उसे विलासिता (luxury) कहा जाता है। इस प्रकार इस समाज मे मुख्य विषय 'सहमति' (conformity) का होता है।

परन्तु 'उपभोग' के चारों ओर संगठित जीवन में नियामकों की कोई भूमिका नहीं होती–यह प्रलोभन कभी न समाप्त होने वाली इच्छाओ व वाष्शील इच्छाओं द्वारा निर्देशित होता है। इसमें उच्च तथा निम्न की कोई सीमा नहीं होती। विलासिता का विचार भी अर्थहीन हो जाता है (क्योंकि आज की विलासिता कल की आवश्यकता बन जाती है)। नियामकता का सिद्धान्त भी बेमानी है। अतः प्रमुख विषय वस्तु 'पर्याप्तता' (adequacy) बन जाती है।

अब यदि उत्पादकों का समाज अपने सदस्यों के लिए स्वास्थ्य का कोई मानक निशिचित करता है जो सभी को प्राप्त करना चाहिये तो उपभोक्तावादी समाज अपने सदस्यों के समक्ष 'चुस्त–दुरुस्त' (fitness) का आदर्श को प्रस्तुत करता है। प्रायः 'स्वास्थ्य' तथा 'दुरुस्तता' को संलग्न अवधारणाओं तथा पर्यायवाची की भांति उपयोग में लाया जाता है; परन्तु ये दोनों भिन्न प्रकार के संवाद है तथा भिन्न विषयों से सम्बन्धित हैं। स्वास्थ्य, उत्पादकतावादी समाज को दूसरी नियामक धारणाओं की भांति अपनी सीमा 'सामान्य' तथा 'असामान्य' के रुप में निश्चित करता है; यह मानव शरीर की उचित तथा वांछित अवस्था है जिसको निश्चित रुप से परिभाषित व मापा जा सकता है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक क्षमता से होता है।

इसके विपरीत 'दुरुस्तता' ठोस न होकर कुछ भी हो सकती है। इसके बारे में कोई निश्चितता तय कर पाना असम्भव हैं। 'दुरुस्त रहने' का अर्थ है–एक लचीला, अवशोषी, तथा सामंजस्यपूर्ण शरीर का होना। यदि स्वास्थ्य ' न कम न अधिक (no more and no less) प्रकार की अवस्था है तो दुरुस्तता स्थायी रुप से 'अधिक' की ओर खुली होती है–यह किसी भी प्रकार के शारीरिक क्षमता के किसी विशेष मानक से सम्बन्धित नहीं होती है अपितु इसके विस्तार की सम्भावना होती है। स्वास्थ्य के विपरीत यह एक 'व्यक्तिगत अनुभव' है। सभी अन्य व्यक्तिगत अवस्थाओं की भांति ही 'दुरुस्त रहने की शाब्दिक अभिव्यक्ति करना एक दुष्कर कार्य है। इसका अनुभव 'व्यक्ति स्वयं' की कर सकता है। स्वास्थ्य के विपरीत, दुरुस्त रहने के कार्य का कोई अन्त नहीं है। इसके लक्ष्य अस्थायी तथा कभी न समाप्त होने वाले प्रयास की अपेक्षा करते हैं।

अतः तरल आधुनिकता वाले समाज में सभी नियामकों की स्थिति, एक अनगिनत तथा अनिश्चित सम्भावनाओं से परिपूर्ण समाज में, गहन रुप से विचलित हो चुकी है तथा नाजुक हो जाती है।

एक उपभोक्ता वादी समाज में अन्य सभी गतिविधियों की भांति 'दुरुस्त किस्म का स्वास्थ्य' (fitness-like health) बनाये रखना एक खर्चीला कार्य है। तथा इसके लिए अनेकों विशेष यन्त्र व उपकरणों की आवश्यकता होती है जिन्हें केवल उपभोक्ता बाजार ही उपलब्ध कर सकता है। इस प्रकार फिटनेस व स्वास्थ्य के लिए 'शापिंग' करने के लिये आवश्यकता से अधिक कारण हैं। इस प्रकार उपभोक्तावादी समाज में 'शापिंग' एक 'दैनिक अनुष्ठान' का पर्याय बन जाता है। एक उपभोक्ता वादी समाज में, उपभोक्ता निर्भरता में सहभागिता–शापिंग की सार्वभौमिक निर्भरता में सभी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अनिवार्य शर्त है; सबसे ऊपर, भिन्न रहने की स्वतन्त्रता, एक 'पहचान'(identity) रखने

की स्वतन्त्रता इस व्यक्तिगत भिन्नता का साधन बड़े स्तर पर उत्पादित उपकरण हैं। 'विशिष्ट' तथा 'व्यक्तिगत' पहचान को केवल प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उनके खरीदे पदार्थ में कड़ी मेहनत द्वारा निर्मित किया जा सकता है तथा उस पर नियन्त्रण केवल 'शापिंग' के द्वारा किया जा सकता है। परम्परागत समाज में, पहचान में व्यक्ति व वस्तु दोनों सम्मिलित थे; परन्तु दोनों ने अपनी ठोसता आधुनिक समाज मे खो दी।

शापिंग से ग्रस्त समाज में स्वतन्त्रता का प्रकार 'मूल्य–स्वतंत्रता' के उच्चतम स्तर तक पहुँच गया है जिसने जीवन के सभी पक्षों को एक उपभोक्ता की पसन्द मे परिवर्तित कर दिया है जिसमें व्यक्ति की क्षमता को जीवन के किसी भी निर्णय को एक उपभोक्ता–पसन्द के रुप में देखने को विवश कर दिया है। इस प्रकार इस तरल आधुनिक समाज में व्यक्ति अपनी व्यैक्तिकता को खोकर मात्र एक उपभोक्ता बन गया है।

References

Bauman, Zygmunt 2012: *Liquid Modernity*, Cambridge: Polity Press (2nd Edition; First Edition published in 2002).

Beck, Ulrich 1992: *Risk Society: Towards a New Modernity*, London: Sage Publications.

Durkheim, Emile 1933: *The Division of Labour in Society*, Illinois: The Free Press of Glencoe.

Giddens, Anthony 1990: *The Consequences of Modernity*, Cambridge: Polity Press.

Lash, Scott 1990: *Sociology of Postmodernism*, London: Routledge.

APPLICATION FORM FOR SUBSCRIPTION

The Editor
NAVRACHNA

Sir,
I would like to subscribe 'NAVRACHNA' Hindi Journal for the year 20...., vol. ..., no. ..... and therefore remit Rs. 300/500/700 by cash/draft/online transfer* as subscription fee for one year/two years/three years as individual subscriber/institutional subscriber respectively.

Yours faithfully,

Signature

(The institutional subscription rate is Rs.500 for one year)
Full Name in Block Letters
(Underline the Surname in case of individual subscriber)
Mailing Address.....

.....

Telephone No.Landline.....Mobile.....

E-mail address.....

Payment details: NEFT/RTGS/IMPS Online transfer no. .....
dated.....Amount.....Bank.....
Transaction reference no. .....

Address for Correspondence: ***Prof. V. P. Singh***
Editor, NAVRACHNA
C-28, Pallavpuram Phase I
Meerut-250110 (UP)
E-mail: grefiplus2018@gmail.com;
Mobile No.: 09235608187 (whatsapp no.)

** Online Transfer can be made in favour of "Global Research and Edu-Foundation India" in Account No. 50200043289227; HDFC Bank, Pallavpuram, Meerut, IFS code: HDFC0001462; Transfer receipt along with filled in Applization form must be sent to the Editor either by e-mail/whatsapp only.*
Our website*: www.grefiglobal.org*

Back issues are also available for individuals/institutions on the following rate excluding bank transaction charges if any.
For Individuals*: Vol.1, No.1 (2015) INR 150; Vol.1, No.2, (2015) INR 150; Vol.2, No.1&2, (2016) INR 300. Single article in pdf format is available at the rate of INR 50 per article.*
Institutions: INR 500 per volume.

'नवरचना' में योगदान के लिये निर्देश

1. *'नवरचना'* मूल रूप से लिखे गये समाजशास्त्रीय शोध–पत्रों का स्वागत करता है। शोध–पत्र (6000– 8000 शब्दों से ज्यादा नहीं) का पृष्ठ के एक तरफ टाइप किया होना तथा पंक्तियों के बीच दोहरी जगह के साथ पृष्ठ के चारों तरफ बराबर हाशिया होना आवश्यक है। शोध–पत्र के साथ (300 शब्दों से ज्यादा नहीं) उसका सामान्य सारांश भी संलग्न होना चाहिए।
2. शोध–पत्र को माइक्रोसॉफ्ट वर्ड में टाइप करके ई मेल द्वारा संलग्नक के रूप में *grefiplus2018@gmail.com* पर भेजा जाना चाहिए। लेख के अक्षर Krutidev 011 (ज्ञतनजपक्मअ 011) लिपि में होना चाहिए। अन्य किसी लिपि में टाइप किया हुआ लेख स्वीकार्य नहीं होगा।
3. लेख में उद्धरण के लिए कृपया लेखक दिनांक की प्रक्रिया को अपनाएं, उदाहरण के लिए, (चौहान 2002)। यदि किसी लेखक के एक अधिक लेखों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो कृपया प्रकाशन के वर्षों को अल्पविराम द्वारा अलग करें (सिहं 1995, 1999)। उद्धरण के पृष्ठ संख्या को कोलन का प्रयोग कर अलग लिखें (मुखर्जी 1995 : 244) तथा यदि एक से अधिक पृष्ठों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो पृष्ठ संख्याओं को हाइफन का प्रयोग कर लिखें (दूबे 1995 : 244–344)। जब एक से अधिक लेखकों का उद्धरण दिया जा रहा हो तो भिन्न लेखकों को कालानुक्रम के हिसाब से सेमी कोलन द्वारा अलग करके लिखें (दूबे 1995; मिश्रा 2005; नारायण 2008)। सह–लेखकों के कार्य के लिए, दोनों के नामों को इस प्रकार उद्धृत करें (फ्रैंक और डेविड 1995); तीन से अधिक लेखकों को उद्धृत करने के लिए, पहले नाम के बाद 'और अन्य' का उपयोग करें (हैल्ड और अन्य, 2010)। अगर राजपत्र रिपोर्ट और सरकारी संस्थाओं के या किसी अन्य संगठन के कार्यों को उद्धृत करना हो तो, जिस संस्था/संगठन ने प्रकाशन को प्रायोजित किया हो तो उसका पूरा नाम लिखें (दिल्ली सरकार 2010), और इन्हें फिर से बाद के प्रसंगों में उद्धृत करना हो तो संस्था/संगठन के नाम का शब्द संक्षेप /लघु रूप लिखें (दि.स. 2010)।
4. लेख में प्रयोग में लाये हुए पुस्तकों का विस्तृत विवरण बाद मे अलग से सन्दर्भ ग्रन्थ सूची इस क्रम में लिखें– (क) लेख : लेखक का नाम; प्रकाशन का वर्ष; लेख का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); शोध पत्रिका नाम (इटालिक में); और वोल्यूम सं., अंक सं. और प्रारम्भ और अंत के पृष्ठ सं.। (ख) संपादित पुस्तकों /कार्यों में अध्याय; लेखक का नाम; प्रकाशन का वर्ष; अध्याय का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); सम्पादक का नाम; पुस्तक का वर्ष (इटालिक में); अध्याय का शीर्षक (इन्वर्टिड कोमा में); अध्याय के प्रारम्भ और अंत के पृष्ठ सं.; प्रकाशन का स्थल; प्रकाशन का वर्ष; प्रकाशन का नाम। सन्दर्भों की सूची में (पहले) लेखक के उपनााम के वर्णक्रमानुसार रूप से लिखा जाना चाहिए।
5. 'नवरचना' एंडनोट स्वरूप का अनुकरण करता है जो इस प्रकार हैः उन सभी व्याख्यात्मक टिप्पणियों को एक साथ क्रमबद्ध करें जिस क्रम में उन्हें मुख्य लेख में उल्लेखित किया गया है (क्रमांक के आधार पर सुपरस्क्रिप्ट का प्रयोग करके) एवं उन्हें लेख के अन्त में पर सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के पहले रखें। एंडनोटस को सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
6. तालिका, चार्ट, नक्शे, ऑकडे आदि लेख के अन्त में अलग से रखा जाना चाहिए। इन्हें अंकों का प्रयोग कर उपयुक्त शीर्षक/कैप्शन के साथ क्रमानुसार रखें। लेख में उन्हें उनके अंको द्वारा सूचित करें –सारणी 5, नक्शा 1 आदि न कि उनके स्थान द्वारा–जैसे सारणी के ऊपर चित्र के नीचे आदि।
7. अन्य कार्यों से लिए शब्द या वाक्यों को ऐकल उद्धरण चिन्हों के भीतर रखें, दोहरे उद्धरण चिन्हों का उपयोग केवल कोटेशन के भीतर ही करें। यदि कोटेशन पचास शब्दों से अधिक हो तो उन्हें मुख्य टेक्स्ट से अलग लिखें एवं उन्हें पृष्ठ के बाईं तरफ रखें। जब तक पूरा वाक्य उद्धरण का हिस्सा न हो तो विराम चिन्ह उद्धरण चिन्हों के बाहर ही रहना चाहिए।
8. 1से 99 तक के अंकों को शब्दों में लिखें 100 तथा उससे ऊपर के अंकों को ऑकडों में। हालांकि कुछ जगहों पर ऑकडों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जैसे दूरीः 3 कि.मी.; उम्रः 32 वर्ष; प्रतिशतः 64 प्रतिशत एवं वर्षः 1995 आदि।
9. योगदानकर्ताओं द्वारा अपने लेख के साथ एक अलग पृष्ठ पर अपना नाम, पद, अधिकारिक पता और ई–मेल भेजना आवश्यक है। उन्हीं लेखों के प्रकाशन पर विचार किया जायेगा जिन्हें पहले कभी प्रकाशित नही किया गया हो या जिन्हें किसी अन्य जगह पर प्रकाशन के लिए विचार न किया जा रहा हो।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 22–28

सूचना क्रान्ति–मीडिया और स्त्री की छवि

मंजू नावरिया*

मीडिया क्रान्ति ने एक नये विश्व का सृजन किया है। सृजन के इस परिपेक्ष्य में भारतीय महिलाओं ने जिस बदलाव को दृष्टिपात किया है, वह सचमुच चौंकाने वाला है। मीडिया क्रान्ति एवं संचार, प्रचार–प्रसार के विभिन्न माध्यमों द्वारा भारतीय महिलाओं ने जिस नये आकाश को छुआ है, वह अत्यन्त संभावनाओं का एक नया चेहरा दिखाता है। वर्तमान समय में मीडिया क्रान्ति एवं महिलाओं पर विस्तृत विचार किया जा रहा है, वैश्वीकरण एवं सांस्कृतिक शिक्षा के बदलाव एवं समाज का नया भावी रूप कैसे स्थापित किया जाए, पर बहस की जा रही है।

स्वतंत्रता के बाद पिछली शताब्दी में भारतीय महिलाओं की स्थिति एवं इस नयी सदी में हो रहे विश्व सूचना प्रौद्योगिकी के विविध प्रयोजनों द्वारा भारतीय महिलाओं का बदल रहा सामाजिक एवं राजनीतिक चेहरा इसी मीडिया क्रान्ति की देन है। नई सूचना क्रान्ति एक नए युग का सृजन है। नई शताब्दी मीडिया सूचना क्रान्ति की शताब्दी है इस नई शताब्दी में मानवीय सरोकारों का आधार–वैज्ञानिक तथा तकनीक से होकर नई मान्यताओं को स्थापित कर रहा है।

आज जब पूरा विश्व एक ग्लोबल गांव का परिदश्श्य धारण कर चुका है हमारे इस भू–भाग पर भी इसका असर अपने चमकदार रंगों से दिखाई देने लगा है। इस नई शताब्दी में रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, इण्टरनेट तथा मीडिया के नये आसमाँ हमसे रूबरू हो रहे हैं, जिन्होंने हमारी दिनचर्या, हमारा रहन–सहन तथा हमारे समूचे रस्मों रिवाजों को प्रभावित किया है। यहाँ तक कि हमारी रोजमर्रा की भाषा भी आज ग्लोबल स्वरूप धारण कर चुकी है तथा यही पाश्चात्य प्रभाव हमारी दैनिक जीवनचर्या में समाहित हो गया है।

विश्व की आबादी का आधा भाग महिलाओं का वह भाग है, जो मानव–जीवन की विकास यात्रा को एक नया दिशा बोध तथा एक नये आसमान तक ले जाता है। हमारे देश में महिलाओं की स्थिति विरोधाभास में से गुजरती हुई दिखाई दे रही है। हमारे शहरों में तो महिला विकास, शिक्षा, रोजगार तथा अन्य संसाधन मुहैया हो रहे हैं, परन्तु सुदूर देहातों में रहने वाली महिलाओं तक अभी भी शिक्षा तथा रोजगार के अवसरों के अलावा कुपोषण से बचने के प्राथमिक संसाधन भी नहीं पहुंच पा रहे हैं।

---

*व्याख्याता–समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, बहरोड़, अलवर, राजस्थान

क्या इस नई शताब्दी की बेहतरीन इन्टरनेट सेवा और विकास प्रौद्योगिकी तकनीक से हम गांव की उस आखिरी महिला को भी विकास की इस मुख्य धारा में शामिल कर सकेंगे जो अपने परिवार की गुजर बसर करने के लिए मजदूरी तक कर रही है।

इस दशक में हुई इस मीडिया क्रान्ति ने इस नई शताब्दी को मीडिया की सदी का नाम दिया है। भारतीय महिलाओं के संदर्भ में सूचना क्रान्ति से वे कितना सीख पाई हैं, तथा उनके विकास तथा उनके अन्दर नई जागृत पैदा करने में यह क्रान्ति कितनी सफल हुई? इन्हीं प्रश्नों को समझने का प्रयास अनेकों समाजशास्त्रियों एवं संचारशास्त्रियों द्वारा लगातार किया जा रहा है।

इस बदलते हुए परिवेश में भारीय जनमानस अपनी नई आँखों से पूरे विश्व को देखने की कोशिश में जुटा है। यह नई शताब्दी असल में भारत की होगी, क्योंकि बदलते विश्व परिदृश्य में राजनीतिक और सामाजिक सरोकार इस बड़े एशियाई भू–भाग में इकट्ठा होते दिखाई दे रहे हैं। क्योंकि आबादी के अनुपात से भारत आज विश्व के सबसे बड़े मध्यमवर्गीय उपभोक्ता बाजार की शक्ल धारण कर रहा है और आकाश से हो रहे टी.वी. के प्रसारण ने पिछले एक दशक से पूरा का पूरा परिदृश्य ही बदल दिया है और इस नई शुरूआत में आज भारतीय समाज एक नया रास्ता तलाश कर रहा है।

इस पूरे परिदृश्य में भारतीय महिलाएं अपनी अग्रणी भूमिका में हमारे सामने हैं। आज इस नई शताब्दी में भारतीय नारी अपने नए आसमाँ को तलाशती हुई नजर आती है। इस बदलते हुए परिदृश्य में क्या–क्या है, भारतीय समकालीन महिला के संसार में? आज मीडिया क्रान्ति ने इसके अनेक दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किए हैं।

इस परिवेश में आज का एक कटु सत्य यह भी है कि आज भले ही सब कुछ शहरी क्षेत्रों में केन्द्रित होता जा रहा है और सभी अवसर पर शहरी महिलाओं तक सीमित हो रहे हैं, परन्तु सच यह भी है कि आज मीडिया, जिसमें टी.वी., रेडियो और फिल्मों के अलावा जनसंचार के अन्य साधन समाचार–पत्र भी अग्रणी हैं, ने आज महिलाओं में जागृति पैदा करने के विशेष भूमिका अदा की है। लेकिन एक सच यह भी है कि अभी भी भारतीय महिलाओं का एक बड़ा अनुपात है, जो अति दयनीय स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त हैं।

मीडिया क्रान्ति

आज सूचना क्रान्ति के इस सच के सामने एक सच यह भी है कि आज सुदूर गांव में बैठी महिला भी टी.वी. और रेडियो के अलावा समाचार–पत्र पढ़कर उतनी ही जानकारी रखने की कोशिश में है, जो शहर में बैठी महिला सोच सकती है। इस नई भारतीय मीडिया संस्कृति ने भारतीय महिलाओं के लिए खुला संसार पैदा कर दिया, जहाँ से वे अपने आप पूरे विश्व को देख सकती हैं। अपनी सोच को एक नई परवाज दे सकती हैं।

आधुनिक शताब्दी की मीडिया क्रान्ति के बारे में संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट बताती है कि आज एशियाई महाद्वीप में 64 प्रतिशत महिलाएं टी.वी. और रेडियो देखती सुनती है और 17 प्रतिशत फिल्में तथा सिर्फ एक प्रतिशत से कम अनुपात इंटरनेट तथा ज्ञान सुविधाओं का उपयोग करती है। इसका सीधा–सादा अर्थ है कि महिलाओं में जागृति और प्रगति का एक साधन सिर्फ टेलीविजन और रेडियो ही है। आज इस उपभोक्ता संस्कृति के चलते महिलाओं में घर–परिवार के साथ–साथ पास–पड़ोस, फैशन, आचार–व्यवहार, पहनावे और घर की साज–सज्जा तक का बदलता

हुआ स्वरूप दिखाई देता है। इसीलिए नोबेल पुरस्कार विजेता टोनी मोरिसन का मानना है– ''इस नई शताब्दी की महिला एक बदलते हुए रूप में कुछ नये अर्थों में इस विश्व को नया रास्ता दिखाएगी और वह है, जनसंचार और प्रसारण–माध्यम जैसे टी.वी., अखबार इत्यादि। इस शताब्दी के शुरू में महिलाएं अब तक बदली हुई भूमिका में पूरे विश्व को रास्ता दिखा रही है। मेरा मानना है कि यह शताब्दी महिलाओं की ही होगी।''

इस नई संचार–क्रांति ने दरअसल महिलाओं के लिए अनेकों द्वार खोल दिए हैं और उन्हें उनकी क्षमता से परिचित करवाया है। बांग्लादेशी लेखिका तस्लीमा नसरीन इसे इन शब्दों में देखती है–

तुम लड़की हो,
तुम अच्छी तरह याद रखना,
तुम जब घर की चौखट लांघोगी,
लोग तुम्हें टेढ़ी–मेढ़ी नजरों से देखेंगे,
तुम जब गली से होकर गुजरोगी,
लोग तुम्हारा पीछा करेगें, सीटी बजाएंगे,
तुम जब गली पार करके मुख्य सड़क पर पहुंचोगी
जब तुम्हें चरित्रहीन कहकर गालियां देगें।
तुम व्यर्थ होगी, अगर पीछे लोटोगी,
वरना, जैसे जा रही हो जाओ।

यह 'बदलताव प्रक्रिया' क्रान्ति का वह अंकुर है, जो धीरे–धीरे बोया जाता है। तथा जो परम्परा और विरासत को पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपनी लय में बदलता है, एक मूक परिवर्तन की तरह। इसे किसी भी नाम से पुकारो, परिवर्तन ही परिवर्तन है। जब सामने आएगा तो एक क्रान्ति की तरह चमकता हुआ चमत्कार दिखाई देगा। इसी में टूटते हैं सारे भ्रम, सारी बासी हो चुकी मान्यताएं, फीके पड़ गए नैतिक–मूल्य। नई परम्परा का विकास ही क्रान्ति का संवाहक कौशल है।

क्रान्ति के लिए ''हरिकृष्ण रावत'' लिखते हैं– ''किसी समाज की सामाजिक संरचना अथवा उसके किसी महत्वपूर्ण पक्ष–सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक अथवा नेतृत्व या किसी महत्वपूर्ण संस्था में द्रुतगति से होने वाली आकस्मिक एवं वृहत् आधारीय परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं। क्रान्ति के द्वारा समाज का मूलभूत ढांचा ही बदल जाता है या बदलाव की स्थिति में आ जाता है।''

''डब्लू.पी. स्काट'' का मत है ''कोई भी परिवर्तन जो समाज के बुनियादी ढांचे में बदलाव लाता है चाहे वह कितना भी समय ले, क्रान्ति कहलाता है।''

आधुनिक भारत में भूमण्डलीकरण, उदारवादी नीतियों, बाजारवाद और उपभोक्ता समाज में क्रान्ति आई है। उसमें मीडिया की बहुत बड़ी भूमिका है। उसने जमीनी सोच व मानसिकता को बदला है। समाज को बाजारवाद और उपभोक्ता–संस्कृति से जोड़ा है और सूचना क्रांति पूंजीवादी व्यवस्था का एक शक्तिशाली औजार बन गया है, जिसके जरिये वह बाजार को अपनी मुट्ठी में करता है और बेशुमार लाभ कमाता है। इस बाजार में उपभोक्ता संस्कृति की चमक–दमक, स्त्री–सौन्दर्य से सजाई जाती। मीडिया उसे एक मॉडल रूपी वस्तु की तरह बाजार में उतारता है। समाज इस मॉडल के हाव–भाव, रंग–रूप, अदाएं, अर्थ–नग्न शरीर, भाव– भंगिमाएं उपभोक्ता को अपनी ओर आकर्षित

करता है। कम्पनी की चीजें दिखती है और मंहगे दामों में बिकती है। इस बदलाव को आप क्या नाम देगें। मीडिया–क्रान्ति जो अलग–अलग तरीके से सूचनाऐं और संदेश समाज को प्रेषित करती है।

सूचना क्रान्ति एवं स्त्री की छवि

यहाँ पर विचार करने की बात है कि मीडिया की भूमिका महिला, समाज को समाजपयोगी बनाने में किस प्रकार की सकारात्मक भूमिका निभाना पसंद करेगी। वह आधुनिक परिवार, समाज और कार्यक्षेत्र से किस प्रकार सामंजस्य करें। इसमें किस प्रकार का सहयोग कर सकती है। मात्र उसके सौन्दर्य, देह और शारीरिक गठन का बाजार के लिए प्रयोग करना महिला का शोषण हैं जो कि नव–आर्थिक उपनिवेशवाद का शोषण है जिसमें स्त्री अपने सौंदर्य और तराशी हुई देह के दाम लेती है। दूसरी ओर मध्यम और उच्च वर्गीय समाज की महिलाओं को इस बाजार में देह का सौदा करने के लिए आमंत्रित करती है। दूसरी तरफ महिलाओं का वह वर्ग भी है जो मीडिया से प्रभावित नहीं होता, वह भारतीय परम्पराओं और रूढ़ियों से बंधा है। प्रगतिशीलता का यह अर्थ नहीं होता कि वह अपनी संस्कृति, संस्कार, मूल्यों व आदर्शों को त्याग दें, फिर भारतीय महिलाओं की पहचान ही क्या रहेगी। क्या मीडिया की गढ़ी आधुनिक अर्ध–नग्न स्त्री विज्ञापन के बाजार में खड़ी अपनी कोई पहचान हैं?

परिवर्तन शाश्वत है पर परिवर्तन की दिशा और दशा पर विचार करना चाहिए। समाज में मीडिया जो परिवर्तन ला रहा है वह हमारे परिवार, सामाजिक संबंधों और राष्ट्र के प्रति किस प्रकार की सोच का प्रतिनिधित्व करता है, इस पर गंभीरता से विचार करना होगा। वर्तमान परिदृश्य में मीडिया पूरे समाज की विशेष तौर से उच्च–मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग का कायाकल्प करता जा रहा है। इसकी वेश–भूषा, खान–पान, चाल–ढाल, हाई–फाई संस्कृति मीडिया ने ही गढ़ी है। एक नई संस्कृति का निर्माण मीडिया की प्रक्रिया है अर्थात हम कह सकते हैं कि मीडिया ने एक नई संस्कृति स्थापित करने का प्रयास किया है।

21वीं सदी में मीडिया इतना प्रभावशाली और शक्तिशाली बन गया है कि वह रातों–रात किसी स्त्री को जमीन से आकाश पर बैठा सकता है। स्त्री घर की चारदीवारी से निकलकर विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने लगी है। मीडिया ने उसकी भूमिका को बदलते युग की जरूरत की संज्ञा दी है। एक नई स्त्री नई भूमिका के साथ फिल्म में, टी.वी. में, मॉल में, बड़ी कंपनियों में, बड़े परदों पर दिखाई देने लगी है। मीडिया ने इसका भरपूर प्रचार किया। इसके पीछे उसका लक्ष्य है नए युग के साथ स्त्री की नई छवि बनानी चाहिए। जो परिवार, समाज व देश को प्रगतिशील बनाए। उत्पादन के कार्यों से सीधे जुड़े। आखिर स्त्री होने का क्या अर्थ है? केवल घर में रहना, बच्चों को जन्म देना, उन्हें पालना, घर का काम करना और अपने व्यक्तित्व को स्वाहा कर देना और यही पितृसत्तात्मक समाज में होता आया है। किन्तु यह ढांचा अब टूटा है। स्त्री एक नए रूप में सामने आ रही है।

प्रसिद्ध चिंतक एवं विद्वान देवेन्द्र इस्सर लिखते हैं कि 'स्त्री की कोई एक छवि नहीं है। उसके अनेक रूप और छवि है और न उसके लिए कोई पैरामीटर ही बना है और न बन सकता है। वह माँ भी है, पत्नी भी, सैक्स सिंबल भी, भोग वस्तु भी, शोषित भी है और कामकाजी भी। इसीलिए स्त्री की एक छवि न होकर अनेक हैं। वे यह भी कहते हैं कि जब नारी को थकी, हारी, हताश, भावनात्मक रूप में अपाहिज आदि कहते हैं तो स्त्री की विकृत छवि प्रस्तुत करते है।'' दूसरी तरफ आधुनिक, प्रगतिशील, भारतीय नारी की छवि को भी स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। यदि इन

स्थितियों का हम विश्लेषण करें तो समाज और मीडिया में समानान्तर कई चीजें एक साथ चल रही है। नारी की छवि, नारी की अस्मिता, नारी की भूमिका, नारी की सामाजिक– आर्थिक स्थिति, नारी की देह का सौन्दर्य और देह का बाजार आदि। इस तरह स्त्री को किसी कटेगरी में नहीं रख सकते हैं। स्त्री चेतना ने स्त्री को स्वयं अपने को परिभाषित करने की क्षमता और शक्ति प्रदान की है। इसीलिए स्वावलंबी महिलाएं स्वयं अपने लिये निर्णय लेती है। वे पुरूषों द्वारा बनाई सीमाओं को लांघ रहीं है, वहीं परम्पराओं को नकार रही है। इसमें मीडिया की भूमिका सकारात्मक दिखाई पड़ती है। आज जींस की पैंट, छोटा शर्ट या सलवार कुर्ता उनकी सामान्य पोशाक बन गई है। एक छवि में कैट वॉक करती नजर आ रही है। तो दूसरी छवि में मिस वर्ल्ड की प्रतिस्पर्धा भी भाग ले रही हैं।

स्त्री की परम्परात्मक एवं घरेलू छवि तेजी से बदली है। मुद्राराक्षस लिखते हैं ''निश्चय ही आधुनिक शिक्षा ने स्त्री को न सिर्फ बौद्धिक क्षमताएं दी बल्कि उसे अपनी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हैसियत का बोध भी कराया है। आधुनिक शिक्षा के प्रसार से एक तीसरी घटना भी घटी है। धर्म नाम की संस्था ने हमेशा परिवार और विवाह के नीतित्व या नैतिकता को भी जोड़ा और नैतिकता ने पतिव्रत और यौन शुचिता की अनिवार्यता सुनिश्चित की।'' आधुनिक समय में स्त्री–छवि को नया स्वरूप प्रदान किया है, मीडिया ने, दूरदर्शन ने सिनेमा ने और साहित्य ने। वर्तमान में स्त्री विमर्श और महिला सशक्तीकरण तो एक आन्दोलन के रूप में खड़ा हो गया है। जिसका लक्ष्य है हर उत्पीड़न अत्याचार, दमन और शोषण से स्त्री की रक्षा करना। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि पुरूष और स्त्री में शक्ति का संतुलन कायम किया जाये।

मीडिया, स्त्री और व्यावसायीकरण

महिला क्रान्ति और मीडिया के इस युग में महिलाओं का परिदृश्य लगातार बदलता जा रहा है। ये प्रश्न आज और भी मुद्दे खड़े करते हैं, जब इन्टरनेट और टी.वी. के माध्यम से स्त्री–देह को एक भोग तथा यथार्थमयी, बाजार की वस्तु बनाकर दिखाया जा रहा है। कैसा है यह सम्मोहन? यह अर्थ प्रधान युग है। ज्ञान भी अर्थ पर आधारित है। अर्थ के चारों ओर ऐसी चीजें बिछ गई हैं कि सुबह से सायं तक व्यक्ति इसी खोज में रहता हैं कि अधिक से अधिक पैसा कैसे प्राप्त किया जाए।

क्योंकि दूरदर्शन और सिनेमा में करोड़ों–अरबों रूपए लगे हैं, तो जाहिर है कि यह सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं होते हैं। यह व्यवसाय है और व्यवसाय में सब कुछ करना होता है। आज दूरदर्शन और सिनेमा ने स्त्री–देह सौन्दर्य को इतने गन्दे और नंगे रूप में दिखाया है कि उसकी स्त्री छवि अत्यन्त नीचे गिर गई है। क्योंकि सैक्स देह का सौन्दर्य बाजार देता है स्त्री का एक–एक अंग आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए इसलिए देह–सौन्दर्य व्यवसाय का माध्यम बनता है। आधुनिक मीडिया के केन्द्र में स्त्री है।

रूपरेखा वर्मा लिखती है कि ''आधुनिक मीडिया का एक बड़ा हिस्सा किस तरह मानवीय संबंध का व्यापारीकरण कर रहा है। किस तरह परम्पराओं व रीति–रिवाजों को बाजार की जरूरतों के हिसाब से नित नए रूपों में गढ़ रहा है।'' आज मीडिया के हर विज्ञापन में सुन्दर व कम वस्त्र धारण किए नारी रूप को देखा जा सकता है। वह नारी एक मॉडल, एक सिने तारिका या किसी क्षेत्र की प्रसिद्ध महिला भी हो सकती है जिन्हें मुंह मांगे लाखों–करोड़ों रूपये दिये जाते हैं।

वास्तव में मीडिया की हर विधा ने स्त्री को केन्द्र में रखकर अपने व्यापार को बढ़ाया है। स्त्री समाज की सोच और मानसिकता को बदलकर उसे व्यवसायी प्रवृत्ति का बनाया है। विज्ञापन में

प्रदर्शित किसी स्त्री को देखकर यह नहीं लगता कि उसकी संवदेनशीलता, लज्जा, भावुकता उसमें शेष भी है कि नहीं, क्योंकि वह व्यवसाय में फंसकर मुरझा गई है। इस स्त्री–लज्जा को त्यागने की कीमत लाखों–करोड़ों रूपये हैं।

भूमण्डलीकरण, उदारवाद, बाजारवाद और उपभोक्तावाद की विश्व–संस्कृति ने बाजार की भाषा बदल दी है। विश्व एक गांव बन गया है और हम विश्व नागरिक। मीडिया ने स्त्री को विश्व के कैनवास पर उतार दिया है। स्त्री छवि को और उसकी देह–सौन्दर्यता को शिल्पकार की तरह तराश कर एक उपभोक्ता की वस्तु बना दिया है। पूंजीवादी समाज ने स्त्री को व्यावसायिक बाजार का एक अभिन्न अंग बना दिया और अपनी वस्तुओं के विज्ञापन करने का एक सशक्त माध्यम।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि विज्ञापन जिन चीजों का किया जाता है, वे सारे परिवारों की जरूरतों का हिस्सा बन जाती है। क्योंकि मीडिया मनोवैज्ञानिक रूप में आपको प्रभावित करता है। स्त्री अपने दैहिक सौन्दर्य को निरन्तर बाजारवादी सामन्ती नुस्खे से तराशती रहती है क्योंकि बाजारवादी प्रतिस्पर्धा में उसे खड़ा रहना है एक उपभोक्ता वस्तु बनकर। इसलिए डा0 प्रभा खेतान लिखती है कि ''सौन्दर्य के साथ जुड़ा है सैक्सुअल आकर्षण। स्त्री पर विज्ञापन, टी.वी. व फिल्म उद्योग, पत्रिकाओं द्वारा गहरा दबाव है कि वह इस आकर्षण को बनाये रखे। नारीवाद स्त्री मुक्ति का चाहे जितना झंडा बुलंद करे पर स्त्री का तन और मन दोनों मीडिया द्वारा प्रेषित छवि से अनुकूलित और संचालित है।''

अरविन्द जैन अपनी नई स्त्री की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ''आजादी के बाद स्त्रियों की साक्षरता दर बढ़ी है उनकी आत्मनिर्भरता बढ़ी है और नौकरियों, रोजगार, व्यवसाय आदि में जब से स्त्रियों ने आना शुरू किया है, विशेषकर भूमण्डलीकरण के बाद, बहुराष्ट्रीय कंपिनयों के आने के बाद, फिल्मों में, विज्ञापनों में, मॉडलिंग आदि में उसे एक नया 'स्पेस' एक नई 'जमीन' मिली है और मिल रही है जिसका मुख्य कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का मीडिया में आना और मीडिया का फैलाव है। पूरे मनोरंजन और सेवा उद्योग में नर्स से लेकर एयर हॉस्टेस तक, रिसेप्सनिस्ट से लेकर फैशन डिजाइनर तक, फैशन मॉडल और हीरोईन तक एक सुन्दर स्त्री के मानकों पर एक पूरी छवि इस मीडिया ने बनाई है।

परन्तु भारतीय समाज की संस्कृति के लिए मीडिया का स्वरूप जो मनोरंजन के नाम पर परोसा जा रहा है, वह अत्यन्त दुख का विषय है। मीडिया का बाजार और विज्ञापन से जुड़ना बुरा नहीं है क्योंकि करोड़ों की लागत से दूरदर्शन या बड़े समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं। वे लाभ के लिए होते हैं किन्तु मीडिया की प्रकृति दिन–प्रतिदन व्यावसायिक होती जा रही है। जिस तरीके से स्त्री का प्रयोग नग्न रूप में किया जा रहा है। वह भारतीय संस्कृति, समाज एवं पारिवारिक संबंधों के लिए कहीं से भी उचित नहीं है। स्त्री का जिस रूप में व्यवसाय में प्रयोग किया जा रहा है, वह एक अश्लील समाज को गढ़ता है। पाश्चात्य स्त्रियों की तरह अंग प्रदर्शन, डांस में अंग प्रदर्शन करना मनोरंजन के नाम पर व्यवसाय हो रहा है। बाजार स्त्री उपभोक्ता के मॉडल से प्रभावित और आकर्षित है तथा पूंजीपति इसका जी भरकर लाभ ले रहा है। प्रभा खेतान कहती है, ''मीडिया इस उपभोक्तावादी स्त्री की छवि को सबलीकृत करता है। दूसरी ओर यही मीडिया, उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन के लिए स्त्री का इस्तेमाल करता है, जिसमें स्त्री का वस्तुवीकरण हो रहा है। जिसमें भूमण्डलीकृत समाज में आज स्त्री भोक्ता और भोज्या दोनों हैं।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि मीडिया में स्त्री की छवि को सकारात्मक दिशा प्रदान की जाए। वर्तमान परिपेक्ष्य में यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि सूचना क्रान्ति के इस दौर में मीडिया स्वायत्ता के साथ–साथ एक जिम्मेदार सामाजिक प्रतिबद्धता, विशेषकर महिलाओं की समस्याओं एवं महिलाओं के साथ–साथ युवक–युवतियों एवं बच्चे, माँ एवं घर परिवार की एक नई छवि संसार के सामने प्रस्तुत की जा रही है जिसके द्वारा एक नई दुनिया की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है। और समूचे भारतीय प्रसारण–तंत्र (मीडिया) को अपनी इस सूचना प्रसारण ताकत को महिलाओं की तस्वीर बदलने के लिए लगा देनी चाहिए क्योंकि जब यह तस्वीर बदलेगी तभी एक भारतीय महिला भारतीय समाज का एक नया सृजन करती हुई एक नए समाज की सुंदर संरचना की ओर अग्रसर होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

रत्तू, कमला 2006: *मीडिया क्रान्ति और महिलाऐं* , जयपुरः नेशनल पब्लिशिंग हाउस.
सिंह, वी.एन.; जनमेजय सिंह, 2010: *आधुनिकता एवं नारी सशक्तिकरण,* जयपुरः रावत पब्लिकेशन्स
रावत, हरिकृष्ण 2010: समाजशास्त्र कोश, जयपुरः रावत पब्लिकेशन्स
स्काट, डब्लू.पी. समाजशास्त्र का शब्दकोष, दिल्लीः गोयल सब पब्लिकेशन
इस्सर, देवेन्द्र वीमेन, फेसेस : मीडिया इमेजेस, कोलकाता।
मुद्राराक्षस, उत्तरार्द्ध पत्रिका, जनवरी 2002, मथुरा।
रूपरेखा वर्मा, वीमेंस सहयोग पत्रिका, (2005), कोलकाता।
खेतान, प्रभा भूमण्डलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।
जैन, अरविन्द 2003: नया ज्ञानोदय (मार्च–अप्रैल).

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 29–32

महिला सशक्तीकरण का यथार्थ : संस्कृति एवं संचार

अरुण कुमारी सिंह*

महिला सशक्तिकरण आज के समय में जितना महत्वपूर्ण है उतना ही संवेदनशील भी। समाज की संस्कृति का मापदण्ड उस समाज में रहने वाले नागरिकों के लिये निर्धारित आचार विचारों की व्यवस्था से किया जाता है जो संचार के माध्यमों से पीढ़ी दर पीढ़ी प्रसारित होता है।

भारतीय समाज की लगभग आधी जनसंख्या महिलाओं की है जो धर्म एवं संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक परिवार के माध्यम से पहुँचाने का महत्वपूर्ण दायित्व पूरा करती है। इसके बावजूद संस्कृति के संस्तरण में उन्हें अन्य या दूसरे दर्जे की नागरिक ही माना और प्रचार–प्रसार किया जाता है। आज वही महिला अधिकार विहीन, असहाय, शोषित और अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रही है। तब प्रश्न उठता है कि महिलाओं के इस स्वरूप का यथार्थ क्या है? तथा इसमें संस्कृति एवं संचार की भूमिका क्या है।

संस्कृति संस्कारों की सम्यक् प्रवृत्ति और सीखा हुआ व्यवहार है। सुसंस्कारों की योजना एवं सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति की शक्ति से इसका निर्माण एवं विकास होता है और अभिव्यक्ति संचार के माध्यम से होती है। विश्व मंच से जब महिलाओं के सशक्त करने के लिये चेतना का प्रवाह हुआ जो आज ऐसे पीपल वृक्ष के रूप में दिखायी दे रहा है जो महिलाओं को भी छाया नहीं दे रहा।

पाश्चात्य देशों में भौतिकवादी संस्कृति का महत्व है अतः वहां 'स्व' की अवधारणा महिला सशक्तिकरण का आधार मानी जाती है परन्तु भारत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत का केन्द्र रहा है जहां महिलाओं को परिवार एवं समाज का केन्द्रीय तत्व माना जाता था यही कारण था कि महिला को सृजनकर्ता, निर्माणकर्ता और देवी के रूप में सांस्कृतिक स्वीकृति प्राप्त थी।

''यत्र नार्यस्तु पूज्यनते रमन्ते तत्र देवता'' की विचारधारा में पुरूष से अधिक नारी की महत्ता प्रकट होती है। जब जब आवश्यकता हुई और संकट आया, मानव ही नहीं देवताओं ने भी माता भगवती को ही सहायतार्थ पुकारा, इसके प्रमाण संस्कृति में है। लक्ष्मी (धन की देवी) सरस्वती (ज्ञान की देवी) और दुर्गा (शक्ति की देवी) के रूप में महिला सर्वोपरि तथा सम्मान की पात्र रही थी। पुरूषों से पहले स्त्री का नाम लिया जाता था। भारतीय संस्कृति के इतिहास को देखे तो विदुषी महिलायें, यज्ञ की ब्रह्मा, ज्ञानवान, अच्छी प्रशासक और अच्छी माँ मानी गयी थी। वेदों का सन्देश था, मनुभवः और प्रादुर्भाव था विभाजन रहित समाज जो मानव को वैचारिक दृष्टि से जोड़ता है, लिंग आधार पर नहीं। सामान्यतः एक पत्नीव्रत का पालन होता है। महिलाओं के लिए कु., सुश्री, श्रीमती शब्द का प्रयोग नहीं

---

*एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, बमली, मंडला, म.प्र.

किया जाता था, बल्कि देवी शब्द से सम्बोधित किया जाता था। महिला का अलंकरण उसका ज्ञान माना जाता था मौर्य काल में महिला के अलंकरण को आभूषणों से जोड़ा जाने लगा तथा मोहनजोदड़ों की संस्कृति में शिल्पांकन कर महिला के बाहरी अवतरणों को महत्व दिया गया। अच्छी प्रशासक होने के बाद भी उसे गणिका की श्रेणी में रखा जाने लगा। भारतीय नारी के इस गौरवशाली इतिहास से क्रमशः नारी को एक वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। ऋग्वेद काल से महिलाओं की स्थिति में गिरावट आयी, उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति में महिलाओं की स्थिति में गिरावट दिखाई देने लगी। धर्मसूत्रों में बालविवाह के निर्देश खोज महिलाओं को शिक्षा से वंचित करने की शुरूआत की, बाल विधवाओं के लिये सती के विकल्प निकाले। गोस्वामी तुलसीदास जी ने महिलाओं की तुलना पशुओं से कर उसे प्रताड़ना का अधिकारी कह दिया। पुत्र एवं पुत्री के जन्म के समय भेद–भाव तथा महिलाओं को सुरक्षा की दृष्टि को आधार मान पिता, पति और पुत्र के अधीन कर दिया पुरूष की बढ़ती अधिकार शक्ति ने महिलाओं को अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में सुरक्षित बताकर नीतियों और मान्यताओं में समाहित कर दिया और स्वयं उसका मालिक बन गया। यही से महिलाओं की स्थिति को पुरूष रचित धार्मिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जोड़कर इस तरह प्रस्तुत किया कि महिलायें पीढ़ी दर पीढ़ी इस मानसिकता से प्रभावित रहे और उसका प्रसार करें।

सोची समझी व्यवस्था के तहत महिलायें लिंग असमान आचार संहिता को प्राप्त हुयी। 'औरत पैदा नहीं होती बना दी जाती है' के कथन को चरितार्थ करती हमारी संस्कृति ने वास्तव में औरत को औरत बना दिया। धन, शक्ति और ज्ञान की देवी को न्यायोचित अधिकार से वंचित रखा। महिलाओं के लिये आदर्श पतिव्रत आवश्यक परन्तु पुरूषों के लिये आदर्श पत्नीव्रत आवश्यक नहीं रहे। पति को देवता, स्वामी, अन्नदाता माना, पुत्र को वंश का रखवाला उत्तरधिकारी, कुलदीप मोक्षदायक, चिता में अग्नि देने वाला तथा वृद्धावस्था का सहारा कहकर महत्व दिया तो कन्याओं को बेचारी, पराया धन, डोली से अर्थी तक का सफर शोषण व अधीनता से घिरा बताया। विवाह के पश्चात् उपनाम के साथ नाम भी बदल दिया जाना पूर्णतः उसके अस्तित्व को समाप्त कर देता है। कम उम्र में विवाह, विधवा होने पर पुनः विवाह के अधिकार तथा जीवन की सुविधाओं से वंचित कर दिया जाना। महिलायें पति व पुत्र की लम्बी आयु के लिये व्रत रखती है पूजा करती है, अच्छा कार्य एवं बड़ों का सम्मान करने पर आशीर्वाद भी मिलता है तो महिला को नहीं बल्कि उसके पति एवं पुत्र के लिये (सौभाग्यवती भवः एवं पुत्रवती भवः) होता है। जो संदेश देता है कि महिलाओं का अस्तित्व पति एवं पुत्र से है।

संस्कृति मानसिक विकास का आधार होती है। महिलाओं के लिये निर्धारित एवं सोची समझी सुनियोजित व्यवस्था के तहत महिलाओं को ही इस विकृत संस्कृति का वाहक बना दिया, धार्मिक पुस्तकों में तथाकथित लेखकों ने इस विचाराधारा को आगे बढ़ाया।

भारतीय संस्कृति के आदर्श ग्रन्थ रामचरितमानस में सीता को आदर्श माना गया, पति का साथ देने वाली सीता की अग्नि परीक्षा, वन में निष्कासन, पृथ्वी में समा जाना, सीता का व्यवस्था से विरोध नहीं बल्कि विधि का विधान कहा गया, जब कि सीता की सुरक्षा का दायित्व तो श्री राम का था। मानवलोक एवं देवलोक में पूज्यनीय देवी सीता की इस मौन पीड़ा को विवेकानन्द जी ने स्वीकार करते हुये कहा कि ''अविचलित भाव से मुख से आह निकाले बिना सीता जी ने महादुखःमय जीवन व्यतीत किया'' महाभारत की द्रोपदी को सम्पत्ति समझ जुए में हारना तथा भरी सभा में परिवार जनों के सामने द्रोपदी का चीर हरण करना, महिलाओं के अपमान का विकृत रूप रहा था।

परिवार की व्यवस्था के साथ पिता एवं पति का सहयोग कर दोहरी भूमिका निभाने वाली महिला पिता, पति एवं पुत्र के अधीन हो गई। परिवार व धर्म की चहारदीवारी में कैद सेविका, याचिका, निःसहाय और कमजोर बन लिंग विभेद, लिंग असमानता एवं लिंग दबाव के कारण अस्तित्वहीन हो गयी। इतना ही नहीं नैतिकता का इतना पतन हुआ कि बोल–चाल की गालियां भी स्त्री को आधार बना कर दी जाने लगी, मां और बहन ऐसी दुर्गति युगों से प्रताड़ित, पीड़ित एवं तिरस्कृत नारी की दयनीय स्थिति को अनुभव कर मैथलीशरण गुप्त कह पढ़े ''अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।''

19वीं शताब्दी से 20 शताब्दी तक सुधारवादी युग था और सुधार के केन्द्र में महिलायें थी। इस शताब्दी में महिलाओं ने अपनी सफलता का परिचय दिया और एक नारा आया ''हम भारत की नारी है, फूल नहीं चिंगारी है।'' इस समय दुनिया में माना कि विकास का आधार महिलायें ही हैं और प्रगति की कुंजी भी, यहीं से वास्तव में महिला सशक्तीकरण की चेतना का विकास हुआ और नारीवादी चिन्तन एवं स्त्री–विमर्श पर चिन्तन की शुरूआत हुयी। स्वतंत्र भारत के संविधान में लिंग के आधार पर समानता दी गई परन्तु संविधान निर्माताओं ने आर्थिक व राजनैतिक स्वतंत्रता दी परन्तु परिवार और विवाह के संदर्भ में जेन्डर की समानता देने को तैयार नहीं थे, उनका मानना था कि यह एक कानून के दायरे में आता है।

1980 के बाद से समाज के विकास में महिलाओं की सहभागिता देखी गयी। आज महिलायें हर क्षेत्र में श्रेष्ठता साबित करती जा रही है और समाज के विकास में योग दे रही है। 1993 में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति ने पंचायत में ग्रामीण महिलाओं को 33ः आरक्षण देकर महिलाओं को सशक्त बनाने का प्रयास आरम्भ किया परन्तु राज्य सभा और लोकसभा में आम सहमति नहीं बन पाना तथाकथित महिला सशक्तिकरण के नारे तथा योजनाओं ने आर्थिक, सशक्तिकरण के लिये नौकरियों में 33ः स्थानीय निकायों में, 50ः संगठित क्षेत्रों में, 20ः आरक्षण तथा पैतृक सम्पत्ति में महिलाओं को समान अधिकार दिया। वास्तविकता यह है कि क्या आरक्षण की वैसाखी से महिलाओं को सशक्त किया जा सकता है? क्या इससे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में बदलाव आयेगा।

वर्तमान समय की भौतिकवादी विचारधारा में कुविकसित, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यतायें तथा नैतिक मापदण्ड आज भी विकसित है। पित्र–सत्ता की व्यवस्था में धर्म एवं संस्कृति की जड़े इतनी गहरी है कि यह बदलाव महिलाओं की दिशा तो बदल सकता है दशा नहीं। सुधारों में पूरा जोर इस बात पर है कि बदलाव के बाद मान्यताओं और परिवारिक जीवन में कोई परिवर्तन न आये। आज भी महिलाओं के सामाजिक और कार्यात्मक योगदान को समाज में स्वीकारा नहीं जाता। अर्थव्यवस्था का दो–तिहाई कार्य महिलाओं द्वारा ही किया जाता है परन्तु उसका 10 प्रतिशत अंश भी उन्हें प्राप्त नहीं होता, परिवारिक कार्य और बच्चों की देखभाल का भी आंकलन नहीं होता। राष्ट्रीय सांख्यकीय संगठन की रिपोर्ट के अनुसार महिलायें परम्पराओं से निकल कर पुरूषों के साथ काम कर रही है, दैनिक गृह कार्यों में जहां महिला 6 घंटे कार्य करती है वहीं पुरूष केवल आधा घंटे कार्य करता है क्योंकि गृह कार्य का सांस्कृतिक और सामाजिक दायित्व महिलाओं का है।

भारत में स्वयं की सेहत पर खर्च का निर्णय 26ः ग्रामीण एवं 29.7ः नगरीय महिलायें ही ले पाती है तथा घरेलू सामान की खरीदी पर 7.6ः ग्रामीण एवं 10ः नगरीय महिलायें ही स्वयं निर्णय लेने की हक रखती है यह आधुनिक अधीनता है।

कार्यों के दोहरे दायित्व के बाद भी महिला स्वतंत्र एवं सशक्त नहीं है लड़कियों की घटती संख्या उनके अस्तित्व पर प्रश्न और विकृत संस्कृति और संस्कारों का प्रतीक है। देश में शिक्षित व कामकाजी महिलाओं की संख्या बढ़ रही है उसी अनुपात में कन्या भ्रूण हत्या, यौन शोषण, दहेज के लिये हत्या या आत्महत्या की विवशता, निर्वस्त्र घुमाना, उनकी क्षमताओं और योग्यताओं का उचित मूल्यांकन न होना, घर, परिवार, नातेदार, बस, ट्रेन तथा पार्क जैसे सार्वजनिक स्थानों पर छेड़छाड़ तथा सामूहिक बलात्कार, नाबालिग कन्याओं के साथ बलात्कार , मोबाइल द्वारा अश्लील बातें, ैडै और डण्डऽैण् के प्रकरण, भय और उत्पीड़न पैदा कर रहे है। इसके लिये कोई नैतिक मापदण्ड तथा सुध ाार के स्थान पर संचार क्रान्ति के युग में लड़कियों को मोबाईल न देने की नसीहत बार–बार हमारे नेता देते है, घरेलू हिंसा विरोधक अधिनियम के बाद घरेलू हिंसा के एक प्रकरण में कर्नाटक उच्च न्यायालय के माननीय जज का कथन 'पति से पिटनें में क्या हर्ज है' शर्मनाक है।

दिन–प्रतिदिन घटित होने वाली इन घटनाओं से महिलायें न घर में सुरक्षित है न ही घर के बाहर। जब पिता ही बेटी का काल बन जाये (आयुषि हत्याकाण्ड), जब सुरक्षा देनी वाली पुलिस अत्याचार एवं सामूहिक बलात्कार थानों में करे, जब नेतृत्व देने वाले नेता तथा न्याय देने वाले न्यायधीशों के वक्तव्य अमानवीय हों, जब काम के बदले अस्मत मांगी जाय, जब साहित्य पत्र–पत्रिकायें, टी. वी. सोशल साईट महिलाओं को देह से अलग कुछ न माने तब महिला सशक्तीकरण के यथार्थ पर प्रश्न, संचार के व्यवसायीकरण पर सवाल, और संस्कृति की निरीहता तथा पुरूष की विकृत मानसिकता महादेवी वर्मा के इस कथन की याद दिलाती है कि–''नितान्त बर्बर युग में नारी केवल विनोद और अधिकारों की वस्तु समझी जाती थी परन्तु आज के सभ्य एवं वैज्ञानिक युग में नारी के लिये यही बर्बरता का युग है।''

यदि वास्तव में महिला सशक्तीकरण लाना है तो महिलाओं को सक्षम बनाना होगा तथा समाज तथा समाज और संस्कृति को महिलाओं के प्रति मानसिकता बदलनी होगी उन्हें देवी और दासी नहीं सहयोगी मानना होगा।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 33–36

भारतीय मुस्लिमों में सामाजिक संस्तरण

परवेज अहमद अब्बासी*

सामाजिक संस्तरणों में समाज का विभाजन शक्ति, प्रतिष्ठा तथा विशेषाधिकार का कोटि–क्रम निर्मित करती है जो सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक लक्ष्य है। सामाजिक स्तरीकरण इस पूर्वानुमान पर किया जाता है कि प्रत्येक समाज में शक्ति, प्रतिष्ठा और परितोष के आधार पर असमानता अस्तित्व में होती है (डेविस और मूरे 1966 : 46–53)। यद्यपि भारतीय परिस्थिति जन्म आधारित संस्थागत असमानता की व्याख्या करती है तथापि वर्ग के सिद्धान्त भी स्तरीकरण के निर्धारण में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करने लगे हैं (सिंह, योगेन्द्र 1974)। सामान्यतः इस्लाम के मूल्य पूर्णतावादी है, जातिगत संस्तरण को सैद्धान्तिक रूप से इस्लाम में स्वीकार नहीं किया गया है, और इस्लाम के मूल्य की उत्कृष्टता की जड़ें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में निहित हैं। परन्तु भारतीय मुस्लिमों की स्थिति संकेत करती है कि हिन्दू सामाजिक संरचना अपनी असमानता की प्रकृति को इस्लाम के सामाजिक मूल्यों के साथ अस्तित्व में बनाये हुए है। अशरफ, विवाह और नातेदारी सम्बन्धों को स्थापित करने में सदैव दूरी बनाये रखते हैं विशेष रूप से उन मुस्लिमों से जिन्होंने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम स्वीकार किया है और उन्हें कभी भी अपने समान स्वीकार नहीं किया। जाति–आधारित असमानता धर्मान्तरित मुस्लिमों में सतत चली आ रही है। वे अपने परम्परागत जाति संस्कारों का पालन करते हैं और परम्परागत व्यवसाय से जुड़े हुए हैं (सिंह, योगेन्द्र 1973 : 193–194)।

परम्परागत रूप से प्रत्येक मुस्लिम जाति अपने वंशज के स्थान को बनाए रखने का प्रयन्त करती है जो उसे जन्मजात रूप से मिली हुई है। अशरफ अपना उच्च स्थान बनाए रखते हैं किन्तु कसाई और मल्लाह व्यवसायिक जातियां उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं (अब्बासी, 1981)। निम्न जाति के सदस्य शक्ति और विशेषाधिकार की माँग के कारण उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते रहते हैं। जाति और वर्ग के विभिन्न समूह असमान स्तर का प्रदर्शन करते हैं जिसे राजनीति अथवा आर्थिक शक्ति, सामाजिक प्रस्थिति, विशेषाधिकार और पारितोष के आधार पर संस्तरित किया जा सकता है। मुस्लिमों में जाति की तरह के स्वभाव का सिंहावलोकन करना आवश्यक है जिससे कि मुस्लिमों में जाति संरचना के स्वरूप को समझा जा सके। अन्सारी (1960–64) ने उत्तर प्रदेश के मुस्लिमों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उच्च स्तर

*प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, वीर नर्मद साउथ गुजरात यूनीवर्सिटी, सूरत, गुजरात

अर्थात अशरफ वैवाहिक समूहों, जिसे बिरादरी कहते हैं, में विभक्त है जो एक नातेदारी समूह का सीमित क्षेत्र पत्नी चयन हेतु बनाती है जिससे कि पूर्वजों की पवित्रता बनाये रखी जाये। वह तर्क देते हैं कि उच्च जाति में परिवर्तित मुस्लिम जैसे कि राजपूत अपने मूल प्रतिलोम विवाह को अभी तक बनाकर रखे हुए है। माइन्स (1971) जिसने उत्तर तमिलनाडू के पल्लावरम कस्बे के तमिल मुस्लिमों के सामाजिक संस्तरण का अध्ययन किया, उनका विचार है कि तमिल मुस्लिम न तो पूर्णतः हिन्दू और न ही दूसरे मुस्लिम धार्मिक समुदायों के समान माने जा सकते हैं यद्यपि सांस्कृतिक रूप से हिन्दू व मुस्लिम तमिल एक दूसरे के बहुत निकट हैं, किन्तु मुस्लिम की ऐकेश्वरता के कारण एक अलग पहचान है जो उच्च और निम्न के सिद्धान्त से परे है किन्तु उनमें भी रावघेट, लाब्बाई, मशकाथार और कायालार जैसे अलग–अलग समूह हैं। माइन्स ने स्वीकारो है कि कच्चे चमड़े और खाद्य–शोधन (नमक) के व्यवसाय के कारण कायालार की सामाजिक स्थिति निम्न है। उनका तर्क है कि मुस्लिमों में उपविभाजनों का कोटिक्रम नहीं किया जा सकता परन्तु व्यक्ति के आचार–विचार, आयु, आर्थिक स्थिति, धार्मिकता और व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर रैकिंग अस्तित्व में है। तमिल मुस्लिम अंतः विवाही हैं और पत्नियों की पसन्द की प्रवृत्ति समान आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक समूहों से की जाती है जो रक्त की शुद्धता पर आधारित नहीं है।

अग्रवाल (1971) राजस्थान के मिओ (Meos) मुस्लिमों में सामाजिक संस्तरण के स्वरूप का अवलोकन किया तथा वह जाति को सामाजिक समूह के रूप में स्वीकार करते हैं जो अन्तः विवाही, जन्मजात सदस्यता, दूसरे जातियों से सम्बन्ध क सन्दर्भ में जातियों के सोपान को दर्शाते हैं जिसका आधार जाति की शुद्धता तथा अशुद्धता होती है। उनका तर्क है कि मिओ स्वयं को ऊंची जाति से सम्बन्धित बताते हैं हालांकि उनका प्रतिष्ठित राजपूत जाति के क्षत्रिय वर्ण का दावा उनके इस्लाम में धर्मान्तरण के कारण सन्देहप्रद प्रतीत होता है। फिर भी अन्य जातियाँ उन्हें सभी तरह से क्षत्रियों की भांति ही उच्च मानती हैं। इनके पास भूमि स्वामित्व है और राजनीतिक रूप से ये गांव में प्रभु जाति है। जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत फकीर, सक्का और मिरासी जातियाँ इनको सेवा प्रदान करती हैं।

भट्टाचार्य (1978) पश्चिमी बंगाल में मुस्लिमों में सामाजिक संस्तरण के स्वरूप व जाति की धारणा को ग्रामीण स्तर पर दर्शाते हैं। इनका मत है कि यद्यपि इस्लाम एकेश्वरवाद के सिद्धान्त पर आधारित है फिर भी जाति के सामाजिक विभाजन जैसा हिन्दु में प्रचलित हैं, इसने स्वीकार लिया है। वह मुस्लिमों के सामाजिक संस्तरण और इसमें जाति जैसी संरचनाओं की चर्चा करते हैं। यहाँ के सभी मुस्लिम शेख हैं, आर्थिक रूप से इन्हें संस्तरित बारोलोक (धनी) और गरीब (निर्धन) में किया किंतु वह संस्तरीकरण सामाजिक की तुलना में आर्थिक ज्यादा है। वह गांव के शेखों की चर्चा अन्य जातियों से सम्बन्धों के आधार पर करते हैं तथा शाह (फकीर), इस क्षेत्र के मुस्लिमों की एक अन्य जाति है। भट्टाचार्य इन्हें प्रस्थिति समूह मानते हैं क्योंकि उच्चता और नीचता के आधार पर इनको संस्तरित किया गया है। ये नृजातीय समूह (ethnic group) अंतःविवाही है, फिर भी कुछ प्रकरणों में नृजातीय समूह के बाहर भी वैवाहिक सम्बन्ध पाया गया है। हिन्दु जाति व्यवस्था और मुस्लिम सोपान क्रम में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रथम परम्परागत हिन्दू वर्ण व्यवस्था पर आधारित है जबकि दूसरे का कोई व्यवस्थित पौराणिक और धार्मिक आधार नहीं है। लीला दूबे (1978) ने दक्षिण–पश्चिम किनारे के लक्ष्यद्वीप में सामाजिक समूहों का अध्ययन किया तथा इनके विचार भी भट्टाचार्य के समान हैं। उनका मानना हे कि द्वीप के मुस्लिमों में जाति की तुलना हिन्दू जाति व्यवस्था से की जा सकती है,

फिर भी, यह प्रत्येक स्तर पर समान नहीं है। इनके मतानुसार कोया और मेलाचेरी परम्परागत रूप से व्यवसायिक समूह हैं, दूबे मुस्लिमों में जाति कोटिक्रम की संभावनाओं को पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर तलाशने का प्रयत्न करती है।

सिद्दीकी (1978) कलकत्ता नगर के मुस्लिमों के जातीय समूहों (ethnic groups) को पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर संस्तरित करते हैं। उनके अनुसार मुस्लिम जातीय समूह अन्तः विवाही है और उनकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। हाइपरगेमी विशेषतः सैयद और शेख के बीच ही स्वीकार है। जाति के समान व्यवस्था स्पष्ट रुप से दिखाई देती है जो इस्लाम की वृहद परम्पराओं से लगभग तालमेल बनाये हुए है। यह हिन्दू प्रभुत्व भारतीय समाज के अन्तर्गत सामाजिक बिना किसी आन्तरिक संघर्ष के संचालित होता रहता है।

संस्कार की शुद्धता और अशुद्धता के प्रश्न पर डिसूजा (1973) सिद्दीकी के विचारों से सहमत नहीं हैं। इन्होंने भारत के दक्षिण–पश्चिम तट के मोपलाओं का अध्ययन किया और स्वीकार करते हैं कि मैसूर और केरल में मुस्लिम प्रस्थिति समूह सोपान में विभाजित है किन्तु उनके संस्तरण का आधार रक्त की पवित्रता और अपवित्रता नहीं है। मोपलाओं में संस्तरण का आधार धर्मनिरपेक्ष है जैसे कि हाइपरगेमी और मेहर (धनराशि जो विवाह के अवसर पर भुगतान करने में आता है)।

मैसेलॉस (1978) दर्शाते हैं कि 20वीं सदी के अर्द्धशतक तक बाम्बे के खोजा मुस्लिम अवश्य जाति समूह थे, इनकी जमात वास्तव में हिन्दू में पायी जाने वाली जाति पंचायत के अलावा कुछ नहीं है इनमें अन्तः विवाह की प्रथा पायी जाती है। खोजाओं का विभाजन शिया और सुन्नी खोजा के रूप में मिलता है। आगा खाँ के अनुयायी खोजा अपने आप को शिया जबकि सुधारवादी खोजा सुन्नी होने का दावा प्रस्तुत करते हैं। दोनों समूहो में परस्पर वैरभाव इतना बढ़ा कि बिरादरी से निकालने, हत्या, अलग से जमात खाना की स्थापना और न्यायालयों में मुकदमे जैसी प्रतिक्रियाएं हुई। प्रथम दौर में न्यायालय का फैसला आगा खां के अनुयायियों के पक्ष में रहा और उनके शिया होने की घोषणा की गयी। इससे खोजाओं की एक अलग पहचान प्राप्त हुई। इस प्रकार मैसेलॉस इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय समाज के मुस्लिम धर्म, जाति और पंथ के आधार पर अपनी पहचान स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

भट्टी, (1978) ने लखनऊ शहर के निकट कसौली गांव के मुस्लिमों में अशरफ और नान अशरफ जातियों के रूप में संस्तरण पाया। अशरफ जातियाँ ग्राम में प्रभुत्व बनाये हुए हैं तथा एक विशिष्ट व्यवसाय का पालन करती हैं। इनका निष्कर्ष यह है कि कसौली के मुस्लिमों में सोपान का आधार परम्परागत व्यवसाय है।

अहमद (1978) पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद के अध्ययन से दर्शाती हैं कि शेख और सिद्दीकी का विभाजन दो अन्तः विवाही समूहों में संस्कार की पवित्रता व अपवित्रता के आधार पर हुआ है। वे दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि दोनों अन्तः वैवाहिक समूहों के बीच परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होते हैं।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण तथा नगरीय गद्दी मुस्लिमों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि गद्दी अन्तः विवाही समूह हैं तथा सब्जी उगाने तथा दूध व्यवसाय से आज भी दृढ़ता से जुड़े हुए हैं। तथ्य दर्शाते हैं कि नगरीय गद्दी भी स्वयं को परम्परागत व्यवसाय से पृथक नहीं कर सके। नगरीय प्रभाव से इस जाति के कुछ परिवार व्यवसाय के आधुनिकीकरण जैसे शीतगृह के निर्माण द्वारा भाड़े

पर आलू रखने के कार्य की तरफ गतिशील हुए हैं किन्तु परम्परागत व्यवसाय भी उनमें विद्यमान हैं तथा सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में परम्परागत व्यवसाय की प्रबल भूमिका अब भी दृष्टिगोचर होती है परन्तु इस सन्दर्भ में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है वह यह है कि व्यवसाय के आधुनिकीकरण अथवा अपरम्परागत व्यवसाय से सम्बन्ध व्यवसायों द्वारा समृद्ध परिवार, बिरादरी में 'प्रस्थिति समूह' (स्टेट्स ग्रुप) के रूप में उभरने लगे हैं तथा अपने नामों में गाजी प्रत्यय लगाने लगे हैं। (अब्बासी, 1999)।

उपरोक्त अध्ययनो के सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि यद्यपि इस्लाम के मूल्य समानता और भाईचारा पर बल देते हैं और जातिगत असमानता को स्वीकार नहीं करते, फिर भी, भारत के विशिष्ट सन्दर्भ में, जाति की संरचना का सोपान (आन्तरिक एवं वाह्य) मुस्लिम सामाजिक संरचना में पैठ जमाए हुए हैं। इस विरोधाभासी परिस्थिति को समझने हेतु वर्गीकृत संरचना से संस्कृति को अलग करके देखना विश्लेषण की एक प्रविधि हो सकती है किन्तु इस समस्या की गहन सोच एक नवीन अध्ययन की अभियाचना करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Abbasi, Parvez A. 1999: Social Inequality Among India Muslims, New Delhi: AC Brothers.

Aggarwal, Pratap C., Caste, Religion and Power: *An Indian Case study*, Sri Ram Centre for Industrial Relations, New Delhi, 1971.

Bhattacharya, Ranjit K. "The Concept and Ideology of Caste Among Muslims of Rural West Bengal", in (ed.) Imtiaz Ahmad. *Caste and Social Stratification Among Muslims in India*, Manohar, Delhi, 1978.

Bhatti, Zarina 1978 "Status and power in a Muslim Dominated village of Uttar Pradesh" in caste and social stratification among the Muslims, Manohar Book Service,

Davis, K. & W.E. Moore, "Some Principle of Stratification" in (ed.) R. Bendix and S.M. Lipset, *Class, Status and Power*, Free Press, New York, 1966.

Dube, Leela, "Caste Analogues Among the Laccadive Muslim", In (ed.) Imtiaz Ahmad, *Caste and Social Stratification Among Muslims in India,* Manohar, Delhi, 1978.

D'Souza, V.S., "Status Groups Among the Moplahs on South West Coast of India", in (ed.) Imtiaz Ahmad, *Caste and Social Stratification Among Muslims in India*, Manohar, Delhi, 1978.

Maines, M., "Social Stratification Among Muslim Tamils in Tamil Nadu, South India", in (ed.) Harijinder Singh, *Caste Among Non-Hindus in India*, National Publishing House, New Delhi, 1977.

Masselos, J.C., "The Khojas of Bambay: The defining of Formal Membership During the Nineteeth Century", in (ed.) Imtiaz Ahmad, *Caste and Social Stratification Among Muslims in India*, Manohar, Delhi 1978.

Siddiqui, M.K.A., "Caste Among the Muslim of Calcutta", in (ed.) Imtiaz Ahmad, *Caste and Social Stratification Among Muslims in India*, Manohar, Delhi, 1978.

Singh, Yogendra, *Modernization of Indian Traditions*, Thomson Press, New Delhi, 1973.

_____, "Sociology of Social Stratification, and Concepts and Theories of social Change" in *A Survey of Research in Sociology and Social Anthropology*, Vol. 1, pp. 311 – 82, Popular, Bombay, 1946.

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 37–44

वैश्वीकरणः सिद्धान्त एवं अवधारणाएं

श्रीपाल चौहान*

वैश्वीकरण एक बहुआयामी और बहुमुखी प्रक्रिया है जो विभिन्न राष्ट्रों और व्यक्तियों को राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से एक बृहद् समुदाय में एकीकृत कर रही है। यह एक ऐसी निरन्तर प्रक्रिया है, जिसके तहत क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति का समन्वय विनिमय के वैश्विक नेटवर्क से हो गया है। वैश्वीकरण दुनिया के विभिन्न देशों और लोगों का घनिष्ठ समन्वय है, जो परिवहन एवं संचार की लागतों में लाई गई भारी कमी के परिणामस्वरूप हो पाया है और इसके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह मे कृत्रिम रूकावटें समाप्त की गयी है और अपनी सीमा के परे लोगों का आना–जाना बढ़ा है (स्टिग्लिटज, 2003)। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से आज विश्व का कोई भी देश अछूता नहीं रह गया है। प्रारम्भ में वैश्वीकरण को विकासशील देशों को प्रभावित करने वाली एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में देखा गया परन्तु पिछले एक दशक में इस प्रक्रिया ने गति पकड़ी तथा धीर–धीरे इसने सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। वैश्वीकरण को परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो विश्व के सभी क्षेत्रों जैसे–सामाजिक, प्रौद्योगिकी, राजनीतिक, संचार माध्यमों, संस्कृति एवं पर्यावरण आदि को प्रभावित करती है। पिछले दो दशकों में समस्त विश्व में वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने न केवल अर्थव्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये हैं वरन जनसंचार के साधनों को भी वैश्विक स्तर पर विस्तारित करने में पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराये हैं। नयी संचार तकनीकियों ने विश्व के धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थानों को तो प्रभावित किया ही है अपितु लोगों के जीवन स्तर में भी आमूल–चूल परिवर्तन ला दिया है। वैश्वीकरण को गतिमान बनाने में नवीन संचार प्रौद्योगिकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है (सिंह, 2004)।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य वैश्वीकरण के सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का विश्लेषण करना है। इस शोध पत्र को छः भागों में बाँटा गया है। प्रथम एवं द्वितीय भाग में वैश्वीकरण के अर्थ एवं परिभाषाओं को स्पष्ट किया गया है जबकि तृतीय एवं चतुर्थ भाग में वैश्वीकरण की विशषेताओं एवं उसके अनेक आयामों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। शोध पत्र के पाँचवे एवं छठे भाग में वैश्वीकरण की अध्ययन पद्धतियों एवं निष्कर्षों को समाहित किया गया है।

---

*डॉ. श्रीपाल चौहान, एसोसिएट प्रोफेसर, सामाजिक विज्ञान विभाग, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, करौंदी, कटनी (म.प्र.) drspchauhan14@gmail.com

1. सामान्य शब्दकोश एवं विश्वकोश में वैश्वीकरण का अर्थ

न्यू वर्ल्ड एनसाइक्लोपेडिया ने 'वैश्वीकरण' शब्द के इतिहास और उसकी अवधारणा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–''वैश्वीकरण'' शब्द सर्वप्रथम स्पेक्टेटर पत्रिका के 1962 में प्रकाशित अंक में प्रकट हुआ था। परन्तु अंग्रेजी भाषा के प्रतिदिन के व्यवहार में इसका प्रयोग मार्शल मैक्लूहान की पुस्तक *गुटनवर्ग गैलेक्सी* (1962) के प्रकाशन के बाद प्रारंभ हो पाया। 'ग्लोबिलज्म' भी एक नया शब्द है जो ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के 1986 के द्वितीय संस्करण में प्रथम बार प्रकट हुआ''। एक अवधारणा के रूप में वैश्वीकरण से अभिप्राय है– *प्रथम,* विश्व का एक छोटे रूप में सिकुड़ना और *दूसरा,* समग्र के रूप में विश्व में चेतना और जागरुकता का बढ़ना। वैश्वीकरण शब्द का प्रयोग विभिन्न समाजों और विश्व की अर्थव्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों को समझने में किया गया है। ये परिवर्तन दूसरे राष्ट्रों में प्रभावशाली तरीके से बढ़ने वाले व्यापार, निवेश और सांस्कृतिक लेन–देन के परिणाम हैं। परन्तु आज वैश्वीकरण परिचर्चा का एक मुख्य विषय बन गया है। वैश्वीकरण के नये स्वरूप 'अन्तःसम्बद्ध विश्व' और 'वैश्विक बृहद् संस्कृति' को आज एक विश्व गाँव कहा जा रहा है। *दि ग्लोबल ट्रान्सफोरमेशंस वेबसाइट* ने वैश्वीकरण को इस तरह स्पष्ट किया है – ''वैश्वीकरण को एक ऐसी उपयोगी प्रक्रिया (अथवा प्रक्रियाओं का समूह) के रूप में विचारा जा सकता है, जो सामाजिक संबंधों के स्थानीय समूहों में परिवर्तन, लेन–देन तथा अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राज्यीय स्तर पर गतिविधि, पारस्परिक प्रभाव और शक्ति के संजाल के प्रवाह को प्रस्तुत करती है''(हैल्ड 1999)।

विकीबुक्स ने भी वैश्वीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट किया हैः "वैश्वीकरण एकीकरण की एक प्रकिया है, जो विभिन्न राष्ट्रों और लोगों को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से एक बृहद् समुदाय में एकीकृत कर रही है"।

अतः अपने शाब्दिक अर्थ में वैश्वीकरण को परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है जो विश्व के सभी क्षेत्रों जैसे–सामाजिक, प्रौद्योगिकी, राजनीतिक, संचार माध्यमों, संस्कृति एवं पर्यावरण आदि को प्रभावित करती है और विभिन्न राष्ट्रों और लोगों को एक बृहद् समुदाय में एकीकृत कर रही है।

2. सामाजिक विज्ञान के अध्येताओं द्वारा वैश्वीकरण की परिभाषायें

प्रसिद्ध सामाजिक अध्येता एन्थोनी गिडिन्स के द्वारा वैश्वीकरण की प्रथम व्यवस्थित परिभाषा प्राप्त हुई। उन्होंने वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुये लिखा ''वैश्वीकरण सार्वभौमिक सामाजिक संबंधों का तीव्रीकरण है, जो सुदूरवर्ती स्थानों को इस प्रकार जोड़ता है कि स्थानीय घटनायें हजारों मील दूर घटित घटनाक्रमों से प्रभावित होती हैं। और इसी तरह अपने विपरीत क्रम में भी''(गिडिन्स, 1990)।

राबर्टसन ने वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुये लिखा है – ''एक अवधारणा के रूप में वैश्वीकरण संबंधित है *प्रथम,* विश्व पर दबाव और *दूसरा,* एक समष्टि के रूप में विश्व की परस्पर जागरुकता का तीव्रीकरण.....ठोस विश्वव्यापी अन्योन्याश्रितता तथा सम्पूर्ण विश्व की एक समष्टि की चेतना''(राबर्टसन, 1992)।

इसी प्रकार से क्लार्क ने वैश्वीकरण पर अपने विचारों को स्पष्ट करते हुये लिखा है ''वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार में विस्तार और घनीभूतता दोनों गतिविधियों का द्योतक है''(क्लार्क, 1997)।

डेविड हैल्ड ने वैश्वीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा है –''वैश्वीकरण को समकालीन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों यथा सांस्कृतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक तथा अपराध आदि में व्याप्त विश्वव्यापी अन्तःसम्बद्धता को विस्तारित, तीव्र एवं गहन करने की एक प्रकिया के रूप में विचारा जा सकता है''(हैल्ड डेविड, 1999)।

ओहुवुनवा के अनुसार ''वैश्वीकरण को एक ऐसे क्रमिक विकास के रूप में समझा जा सकता है जो संस्कृति, वाणिज्य, संचार आदि विभिन्न क्षेत्रों और दूसरे अनेक क्षेत्रों में व्याप्त अवरोधों को हटाकर विभिन्न राष्ट्रों के बीच अन्तःक्रियात्मक अवस्थाओं (Interactive Phases) का व्यवस्थित पुनर्निर्माण कर रहा है''(ओहुवुनवा, 1999)।

बोमैन वैश्वीकरण को अलगाव और असमानता से उत्पन्न करने वाला कारक मानते हैं। उनकी वैश्वीकरण की परिभाषा इस प्रकार है–''वैश्वीकरण की प्रवृत्ति मतभेद, तानाशाही और अलगाव की है, और इसी प्रकार प्रजातीय अथवा राष्ट्रीयता पृथकतावाद और क्षेत्रीय एकीकरण भी। इसीलिये, सैद्धान्तिक रूप से वैश्वीकरण की यह प्रकृति है कि यह अपनी सजातीय प्रवृत्ति के समानान्तर ही असमानता और अशान्ति उत्पन्न करेगा'' (बोमैन, 2000)।

सिंह ने वैश्वीकरण के बहुआयामी प्रभाव पर जोर दिया है साथ ही संचार माध्यमों पर इसके गहरे प्रभाव को स्पष्ट किया है। वैश्वीकरण पर अपने विचारों स्पष्ट करते हुए उन्होनें लिखा है–''वैश्वीकरण अपने वर्तमान स्वरूप में वह प्रकिया है जो न केवल विकसित राष्ट्रों के सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों को प्रभावित कर रही है वरन् भारत जैसे विकासशील राष्ट्रों के सामाजिक ढ़ाँचे को भी परिवर्तित कर रही है"(सिंह, 2004)।

वैश्वीकरण की उपरोक्त सभी परिभाषाओं में वैश्वीकरण के समालोचकों ने इसकी गहन प्रक्रिया से प्रकट होने वाले इसके विभिन्न नकारात्मक और सकारात्मक प्रभावों पर जोर दिया है। इन सभी परिभाषाओं में वैश्वीकरण की विषयवस्तु और उद्देश्य दोनों दृष्टिकोणों पर बात की गई है। इन परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि वैश्वीकरण ने भौगोलिक दूरियों को समाप्त कर दिया है जो एक बड़ा महत्वपूर्ण कारक है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में पृथ्वी संकुचित नही हो रही है वरन सम्बन्धित दूरियाँ इसके संकुचन का कारण बन गयी हैं। इसीलिए विश्वव्यापी सम्बन्धों का संजाल स्थापित किया जा सकता है। परिणामतः लोग, सामान, वस्तुएं आदि सभी अपने भौगोलिक क्षेत्र से मुक्त हो रहे हैं। एक पूर्ण वैश्वीकृत व्यवस्था में ये सभी मुक्त रूप से विश्वभर में विचरण कर सकते हैं। इस प्रकार अब व्यक्ति और समाज को अधिक समय तक अपनी सरहदों मे सीमित और सुरक्षित नहीं रखा जा सकता।

इस प्रकार, कैथरीन वैन (2005), स्कॉल्ट (2000), एलब्रो (1990) हॉम तथा सोरनसन (1995), मैनफ्रेड स्टीगर (2003), हैल्ड एवं मैक्ग्रा (2003) आदि वैश्वीकरण के समालोचकों ने भी उपरोक्त परिभाषाओं के समान ही कम या अधिक समतुल्य रूप में वैश्वीकरण की परिभाषाएं प्रतिपादित की हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर वैश्वीकरण की एक सुव्यवस्थित और प्रभावी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वैश्वीकरण एक बहुआयामी और बहुमुखी प्रक्रिया है जो

विभिन्न राष्ट्रों और व्यक्तियों को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से एक बृहद् समुदाय में एकीकृत कर रही है। यह एक ऐसी निरन्तर प्रकिया है, जिसके तहत क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति का समन्वय विनिमय के वैश्विक नेटवर्क से हो गया है। वैश्वीकरण दुनिया के विभिन्न देशों और लोगों का घनिष्ठ समन्वय है, जो परिवहन एवं संचार की लागतों में लाई गई भारी कमी के परिणामस्वरूप हो पाया है और इसके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह मे कृत्रिम रूकावटें समाप्त की गयी है और अपनी सीमा के परे लोगों का आना–जाना बढ़ा है।

3. वैश्वीकरण की विशेषताएं

वैश्वीकरण के प्रमुख सिद्धान्तकारों तथा प्रसिद्ध समालोचकों द्वारा वैश्वीकरण की अवधारणा की कुछ सुव्यवस्थित प्रतिपादनाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट हो जाता है कि वैश्वीकरण की कुछ विशिष्ट और अर्थपूर्ण विशेषताऐं हैं। उपरोक्त परिभाषाओं से वैश्वीकरण की कुछ प्रमुख विशेषताओं को चिन्हित किया जा सकता है। मैनफ्रेड स्टीगर (2003) के अनुसार वैश्वीकरण की विशेषताऐं इस प्रकार हैं –

- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का एक समुच्चय
- डिटेरिटोरिएलाइजेशन (Deterritorialization)
- मानवीय गतिविधियों सम्बन्धों और संजाल का विश्वभर में फैलाव
- मानवीय गतिविधियों और सम्बन्धों का तीव्रीकरण
- मानवीय गतिविधियों और सम्बन्धों के वेग का बढ़ना
- विभिन्न समाजों पर विशिष्ट प्रभाव
- विजेताओं व पराजितों की उत्पत्ति
- समतुल्यता (Reflexivity)

इसी भाँति डेविड हैल्ड (1999) ने भी वैश्वीकरण की चार विशेषताएं बतायीं है जो इस प्रकार हैं–

1. यह सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक गतिविधियों को राजनीति, क्षेत्रीयवाद तथा महाद्वीप की सरहदों के पार विस्तारित करता है।
2. यह अन्तःसम्बद्धता तथा व्यापार, निवेश, वित्तीय, प्रवजन आदि का तीव्रीकरण करता है।
3. विश्वव्यापी अन्तःसम्बद्धता की गहनता तथा विस्तृतता को वैश्विक अन्तःक्रिया तथा गतिविधियों की तीव्रता से जोड़ा जा सकता है। क्योंकि विश्वभर में परिवहन तथा संचार व्यवस्थाओं के विकसित रूप ने विचारों, सूचना, मुद्रा, सामान तथा व्यक्तियों के फैलाव के वेग को बढ़ा दिया है। तथा,
4. विश्वव्यापी अन्तःक्रिया के वेग, गहनता तथा विस्तारिता को उसके गहरे प्रभाव से जोड़ा जा सकता है जैसे सूदूर घटित घटनाओं का स्थानीय जीवन पर प्रभाव तथा इसी भाँति स्थानीय घटनाओं का वैश्विक स्तर पर प्रभाव।

इस प्रकार वैश्वीकरण को अनेक अध्येताओं ने उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुये परिभाषित किया है। इन सभी विशेषताओं के आधार पर वैश्विक स्तर पर हम वैश्वीकरण का स्पष्ट प्रभाव देख पाते हैं।

4. वैश्वीकरण के आयाम

वैश्वीकरण एक बहुआयामी और बहुमुखी प्रकिया है जो विश्व के सभी समाजों को परिवर्तित कर रही है। वैश्वीकरण के विभिन्न लेखकों तथा सिद्धान्तकारों द्वारा इसके विभिन्न बिन्दुओं में अभी तक वैश्वीकरण की अवधारणा तथा उसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण किया जा चुका हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण के भी अनेक आयाम हो सकते हें। मैनफ्रेड स्टीगर (2003) ने वैश्वीकरण के अनेक आयामों का अध्ययन किया है। उन्होनें वैश्वीकरण के चार प्रमुख आयामों का परीक्षण किया है जो इस प्रकार है :–

प्रथम, राजनीतिक वैश्वीकरण; *द्वितीय,* आर्थिक वैश्वीकरण; *तृतीय,* सांस्कृतिक वैश्वीकरण; एवं *चतुर्थ,* वैचारिक वैश्वीकरण

इसी भाँति थॉमस हॉलैंड एरिक्सन (2007) ने भी वैश्वीकरण के आठ प्रमुख आयामों का परीक्षण किया है जो इस प्रकार हैं–

- डिस्एम्बेडिंग (संबंधों में बिखराव) विस्थानीयकरण सहित (Disembedding, including de-localization)
- त्वरण एवं गतिवर्धन
- मानकीकृत
- अन्तःसम्बद्धता
- गतिशीलता
- मिश्रितता
- अतिसंवेदशीलता
- रिएम्बेडिंग अथवा संबंधों का पुनर्गठन (Reembedding)

इस प्रकार वैश्वीकरण के अनेक अध्येताओं द्वारा उसके विभिन्न आयामों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है और अपने भिन्न्–भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। वैश्वीकरण के इन सभी आयामों के अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर वैश्विक स्तर पर हम वैश्वीकरण का स्पष्ट प्रभाव देख पाते हैं।

5. वैश्वीकरण की अध्ययन पद्धतियाँ

वैश्वीकरण के विभिन्न लेखकों तथा सिद्धान्तकारों द्वारा इसकी विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का विश्लेषण किया जा चुका हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण की भी अनेक अध्ययन पद्धतियाँ हो सकती हैं। मोटे तौर पर वैश्वीकरण को परिवर्तन की एक ऐसी प्रकिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो विश्व के सभी क्षेत्रों जैसे – सामाजिक, प्रौद्योगिक, राजनीतिक, संचार माध्यमों, संस्कृति एवं पर्यावरण आदि को प्रभावित करती है। वैश्वीकरण के अन्तःसम्बद्धता वाले पक्ष पर प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं परन्तु उसके अन्य पक्षों को लेकर उनमें भारी मतभेद देखा जा सकता है। इन्हें प्रमुख रूप से मुख्य तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है।

- अतिवैश्वीकरणवादी पद्धति
- अतिसंशयवादी पद्धति
- रूपान्तरणवादी पद्धति

अतिवैश्वीकरणवादी पद्धति

इनके अनुसार वैश्वीकरण एक नये युग का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकिया के अन्तर्गत विश्व स्तर पर सभी प्रकार के सम्बन्धों का एकीकरण राष्ट्रों की सीमाओं का एकीकरण करते हुए हो रहा है। जिससे धीरे–धीरे उनका महत्व घट रहा है। पूंजी, उत्पादों, विचारों व व्यक्तियों का राष्ट्रीय सीमाओं से परे बढ़ता हुआ प्रवाह इस नवीन युग के आगमन में एक महत्वपूर्ण कारक की भूमिका निभा रहा है। इस श्रेणी के विद्वानों को पुनः दो उप–श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सकारात्मक अतिवैश्वीकरणवादी तथा नकारात्मक अतिवैश्वीकरणवादी।

अ) सकारात्मक अतिवैश्वीकरणवादी विद्वानों का मत है कि खुली विश्व बाजार व्यवस्था विश्व के सभी राष्ट्रों में अधिकतम आर्थिक वृद्धि उत्पन्न कर देगी जिससे सभी वर्गों के जीवन में सुधार ही आयेगा। ओहमे (1991) इस श्रेणी के प्रमुख विद्वान हैं।

ब) नकारात्मक अतिवैश्वीकरणवादी विद्वान वैश्वीकरण के नकारात्मक प्रभावों को रेखांकित करते हुए इस पूर्ण रूप से निरस्त करते हैं। इस श्रेणी में प्रायः नव–मार्क्सवादी एवं आलोचनावादी सिद्धान्तकार आते हैं। (मार्टिन एवं श्रूमैन 1997, रीच 1991, बैक 1997, श्नेपर 1994 वाइजमैन 1997, होपकिन्स एवं वालेरस्टीन 1996)

अतिसंशयवादी पद्धति

इस श्रेणी के विद्वान मुख्यतः वैश्वीकरण के आर्थिक पक्ष पर बल देते हैं। तथा उनका तर्क है कि इस आर्थिक एकीकरण की प्रकिया में कुछ भी नया नहीं है तथा वे इसकी तुलना प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के विश्वव्यापी व्यापार संबंधों से करते हुये वैश्वीकरण के स्थान पर 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' शब्द के उपयोग को अधिक उचित मानते हैं। इनका यह भी मानना है कि राष्ट्रों की भूमिका में किसी प्रकार की कमी नहीं आने वाली है। तथा वे पहले की भांति ही सुदृढ़ रहेंगे। (हिर्स्ट एवं थाम्पसन 1996, वीज़ 1997)

रूपान्तरणवादी पद्धति

रूपान्तरणवादी विद्वानों का दृष्टिकोंण प्रथम दो श्रेणियों के विद्वानों की तुलना में अधिक व्यापक है। इनके अनुसार विश्व के विभिन्न देशों में हो रहे प्रमुख सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि से संचालित करने वाली केन्द्रीय भूमिका वैश्वीकरण की है जिसका उद्भव तकनीकी, आर्थिक, गतिविधियों, शासन, संचार आदि क्षेत्रों में ही रही निकट रूप से अंतः सम्बन्ध परिवर्तनों के फलस्वरूप हुआ है। इन क्षेत्रों में हो रहे विकास एक दूसरे को मजबूती प्रदान करने वाले हैं अथवा इतने लचीले हैं कि यह कहना अत्यधिक कठिन हो जाता है कि इनमें से किसे कारण माने और किसे परिणाम ? वस्तुतः वैश्वीकरण की प्रकिया ऐतिहासिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय सीमाओं से परे होने वाले प्रवाह सभी राष्ट्रों को एक विश्वव्यापी व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह प्रश्न उठता है कि आखिर इन विद्वानों में कौन सत्यता के अधिक निकट है ? इस विषय में सिंह (2004; 2007) के मत से सहमत हुआ जा सकता है कि रूपान्तरणवादी विद्वानों का मत तथ्यों व सत्यता के अधिक निकट है। वैश्वीकरण की प्रकिया वास्तव में मात्र आर्थिक स्तर पर हो रही प्रघटना नहीं कही जा सकती, यह विभिन्न देशों मे सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को किसी न किसी रूप में प्रभावित कर रही है। अतिवैश्वीकरणवादी व अतिसंशयवादी दोनों ही इसे समझने मे असफल रहे हैं।

अतः कहा जा सकता है कि अतिवैश्वीकरणवादी तथ अतिसंशयवादी दोनों ही प्रकार के विद्वानों ने वैश्वीकरण की प्रकृति को समझने में भारी भूल की है। वे न तो वैश्वीकरण की धारणा को समझ पाये है और न ही सम्पूर्ण विश्व पर होने वाले इसके प्रभावों को क्योंकि वे इसे पूर्ण रूपेण आर्थिक घटना मानते हैं।

6. निष्कर्ष

वास्तव में वैश्वीकरण एक बहुपक्षीय प्रकिया है। इसका गंभीरतापूर्वक विश्लेषण करने से पता चलता है कि आज विश्व व्यापार का स्तर पहले की तुलना में काफी अधिक है तथा इसमें सम्मिलित वस्तुओं और सेवाओं की परिधि बहुत अधिक व्यापक है। इस दृष्टि से वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था को क्रांतिकारी कहा जा सकता है तथा इस प्रकृति के कारण यह विश्व के किसी भी देश की ठोस से ठोस अर्थव्यवस्था को पलक झपकते ही अस्थिर करने में सक्षम है। अतः कहा जा सकता है कि अतिवैश्वीकरणवादी तथ अतिसंशयवादी दोनों ही किस्म के विद्वानों ने वैश्वीकरण की प्रकृति को समझने में भारी भूल की है। वे न तो वैश्वीकरण की धारणा को समझ पाये है और न ही सम्पूर्ण विश्व पर होने वाले इसके प्रभावों को क्योंकि वे इसे पूर्ण रूपेण आर्थिक घटना मानते हैं। वास्तव में वैश्वीकरण तकनीकी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक होने के साथ–साथ आर्थिक भी है। इसका क्षेत्र आज केवल विकासशील देशों तक ही सीमित नहीं रह गया है अपितु इससे पश्चिमी जगत के सभी देश भी प्रभावित हो रहे हैं। वैश्वीकरण को गतिवान बनाने में नवीन संचार प्रोद्योगिकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वास्तव में सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से आ रही इस क्रांति ने समाज के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

स्टिग्लिटज, जोसेफ ई. 2003: *ग्लोबलाइजेशन एण्ड इटस डिसकंटेंटस*, न्युयार्कः नार्टन एण्ड कंपनी।

सिंह, वी.पी., 2004: "ग्लोबलाइजेशन, न्यू मीडिया टैक्नॉलाजी, एण्ड सोशियो कल्चरल चेंजिज इन इंडिया", *इमर्जिंग ट्रेंडस इन डेवलपमेंट रिसर्च*, वोल्यू. 10, नं. 1–2, पृ. 3–9।

सिंह, वी.पी., 2007: "ग्लोबलाइजेशन एण्ड सोशल स्ट्रेटिफीकेशन इन इंडिया", *इमर्जिंग ट्रेंडस इन डेवलपमेंट रिसर्च*, वोल्यू. 13, नं. 1–2, पृ. 1–8।

न्यू वर्ल्ड एनसाइक्लोपेडिया, *ग्लोबलाइजेशन*, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.न्यूवर्ल्डएनसाइक्लोपेडिया.ओआरजी।

दि ग्लोबल ट्रान्सफोरमेशंस वेबसाइट, *ग्लोबलाइजेशन*, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.दिग्लोबलट्रान्सफोरमेशंस.ओआरजी।

हेल्ड, डेविड, मैकग्रयु, ए., गोल्ड ब्लेट., डेविड तथा पेरेटन जे. 1999: *ग्लोबल ट्रांसफॉरमेशंस– पालिटिक्स, इकोनोमिक्स एण्ड कल्चर*, केम्ब्रिजः पालिटी प्रेस।

विकीबुक्स, *कल्चरल एंथ्रोपालिजी/ग्लोबलाइजेशन एण्ड माइग्रेशन*, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.विकीबुक्स.ओआरजी।

गिडिन्स, एन्थनी, 1990: *ग्लोबलाइजेशन, डॉयरेक्टर्स लेक्चर*, 10 नवम्बर 1999, डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.आइएसई.एसी.इन।

राबर्टसन, रोलेण्ड, 1992: *ग्लोबलाइजेशनः सोशल थियोरी एण्ड ग्लोबल कल्चर*, सेज पब्लिकेशंस।

क्लार्क, आई, 1997: *ग्लोबलाइजेशन एण्ड फैगमेंटेशन*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

ओहुवुनवा, माजी एस आई, 1999: *द चैलेंजिज ऑफ ग्लोबलाइजेशन टू द नाइजीरियन इण्डस्ट्रीयल सेक्टर*, नाइजीरियन ट्रिब्यून, 14 दिसम्बर 1999, पृ. 20–21।

बोमन, जे. 2000: *ग्लोबलाइजेशनः द हयूमन कोंसीक्वैंसिज*, न्युयार्कः कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस।

वॉर्मर, कैथरीन वैन, 2005: *कन्सेप्ट फोर कंटेम्परेरी सोशल वर्कः ग्लोबलाइजेशन, अप्रैसन, सोशल एक्सक्लूजन, हयूमन राइट आदि*, एस डब्ल्यू एण्ड ई न्यूज मैगजीन, वोल्यू. 2, नं. 1।

स्कॉल्ट, जे. 2000: *ग्लोबलाइजेशनः अ क्रिटिकल इंट्रोडक्शन*, न्युयार्कः पलग्रेव मैकमिलन।

एलब्रो, मार्टिन एवं ऐलिजाबेथ किंग, 1990: *ग्लोबलाइजेशन*, नालेज एण्ड सोसायटी, लंदनः सेज।

हॉम, हंस हेनरिक तथा जार्ज सोरनसेन, 1995: इंट्रोडक्शनः वॉट हैज चेंज्ड इन हॉम, हंस हेनरिक तथा जार्ज सोरनसेन संपादित, *हूज वर्ल्ड आर्डर ? अनइवन ग्लोबलाइजेशन एवं द एण्ड ऑफ कोल्ड वार,* बोल्डर कंपनीः वेस्टव्यूज।

स्टीगर, मैनफ्रेड, 2003: *ग्लोबलाइजेशनः अ वेरी शार्ट इंट्रोडक्शन,* आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

एरिक्सन, थॉमस हॉलैंड, 2007: *ग्लोबलाइजेशनः द की कंसेप्टस,* आक्सफोर्डः बर्ग।

टोहमे, केनीची, 1991: *द बार्डरलेस वर्ल्ड,* न्यूयार्कः हार्पर कोलिंस

मार्टिन, हंस पीटर एवं हैराल्ड श्रूमैन, 1997: *द ग्लोबल ट्रैपः ग्लोबलाइजेशन एण्ड द असाल्ट ऑन प्रोसपेरिटी एण्ड डेमोक्रेसी,* न्यूयार्कः जेड बुक्स एण्ड प्लूटो प्रेस आस्ट्रेलिया।

रीच, राबर्ट बी., 1991: *द वर्क ऑफ नेशंस,* लंदनः सिमोन एण्ड सूटार।

बैक, उलरिच, 1997: *वॉज इट ग्लोबलाइजर्स ?* फैंकफर्टः सूहकैम्प

श्नेपर, डोमीनिकी, 1994: *ला कम्यूनॉट डेस सिटोयेंसः* पैरिसः गलीमार्ड।

वाइजमैन, जॉन 1997: *अल्टरनैटिव्ज टू ग्लोबलाइजेशनः एन एशिया पेसिफिक पर्सपेक्टिव,* मेलबोर्नः कम्यूनिटी एड अब्रोड।

होपकिन्स, टेरेंस के., एवं इमैनुअल वालेरस्टीन, 1996: *द ऐज ऑफ ट्रांजिसनः ट्रेजेक्टरी ऑफ वर्ल्ड सिस्टम,* 1945–2025, लंदनः जेड बुक्स।

हर्स्ट, पॉल, एव ग्राहम थाम्पसन, 1996: *ग्लोबलाइजेशन इन क्वैश्चन,* कैमब्रिजः पोलिटी।

वीज़, लिंडा, 1997: *ग्लोबलाइजेशन एण्ड द मिथ ऑफ द पावरलैस स्टेट,* न्यू लेफ्ट रिव्यू, 225:3–7।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 45–56

आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता और वैश्वीकरण पर गिडिन्स के विचार

प्रीति तिवारी*

समाज वैज्ञानिकों में आजकल आधुनिकता के मुद्दे पर एक बहस छिड़ी हुई है जिसमें लियोटार्ड आदि जैसे अनेकों विद्वानों का तर्क है कि आधुनिकता समाप्त हो गई है तथा उत्तर–आधुनिकता के एक नये युग का प्रारम्भ हो चुका है तथा समकालीन समाज में पायी जाने वाली अविभेदीकरण (De-differentiation) की प्रक्रिया तथा अन्य जटिलताएँ इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। आधुनिता के इस भिन्न रुप में एक नए प्रकार का एकीकरण उभर कर सामने आता है। एन्थोनी गिडिन्स उन सामाजिक सिद्धान्तकारों में से एक हैं जिन्होंने उत्तर–आधुनिकतावादी विद्वानों के इस अभिमत से अपनी असहमति व्यक्त की है। अपनी मौलिक कृति *आधुनिकता के परिणाम* (1990) में उनका तर्क है कि 'आधुनिकता की परियोजना' (Project of Modernity) अभी समाप्त नहीं हुई है, अपितु यह एक नई स्थिति में पहुँच गई है जिसे वे उच्च आधुनिकता अथवा विलंबित आधुनिकता (high modernity or late modernity) की संज्ञा देते हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या करने में भी गिडिन्स ने अपने इसी तर्क को आगे बढ़ाया है। उनका मानना है कि वैश्वीकरण हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों मे हो रहे रुपान्तरण की एक प्रक्रिया हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में वैश्वीकरण तथा आधुनिकता के मध्य पाये जाने वाले जटिल सम्बन्ध को एन्थोनी गिड़िन्स द्वारा विकसित अवधारणात्मक प्रारुप की सहायता से समझने का प्रयास किया गया है।

पूर्व–आधुनिकता एवं उत्तर–परम्परावाद

एन्थोनी गिड़िन्स ने सर्वप्रथम परम्परागत अथवा आधुनिक संस्कृति (Traditional or Pre-modern Culture) तथा उत्तर परम्परागत अथवा आधुनिक संस्कृति (Post traditional or Modern Culture) के मध्य पायी जाने वाली महत्वपूर्ण विषमता (contrast) को स्पष्ट किया है। कुछ विद्वानों द्वारा जिस प्रघटना को उत्तर–आधुनिकता की संज्ञा दी गई है, गिड़िन्स के शब्दों में यह प्रायः एक पूर्ण रुप से विकसित आधुनिकता का एक अतिरंजित उदाहरण मात्र है इसके लिए हमें गिड़िन्स द्वारा समाज की बढ़ती हुई उत्तर–परम्परागत प्रकृति के विश्लेषण को समझना आवश्यक है। जब समाज में परम्परा का प्रभुत्व होता है तो व्यक्ति की क्रियाओं का विश्लेषण व विचार नहीं किया जाता क्योंकि

*प्रीति तिवारी, रिसर्च स्कालर, वैश्वीकरण एवं विकास अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 211002

उसकी अभिरुचियों को परम्पराओं तथा प्रथाओं द्वारा पहले से ही निर्धारित कर दिया जाता है। समाज के उत्तर–परम्परागत प्रकारों में हम पहली पीढ़ियों द्वारा निर्धारित अधिमानों (Precedence) के विषय में कोई चिंता नहीं करते तथा व्यक्तियों के सामने विकल्प कम से कम उस सीमा तक खुले होते हे जहाँ तक कानून तथा जनमत इसकी स्वीकृति प्रदान करते हैं और समाज में अधिक 'स्वतुल्यता' (Reflexivity) की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। गिडिन्स समाज के सभी पक्षों में बढ़ रही 'स्वतुल्यता' की प्रवृत्ति से प्रभावित हैं जो एक ओर औपचारिक शासन व्यवस्था में दृष्टिगोचर होती है तो वहीं दूसरी ओर इसे गहन यौन सम्बंधो में भी देखा जा सकता है। उनके विचार से *उत्तर परम्परावाद ही आधुनिकता है*। कोई भी समाज तब तक आधुनिक नहीं हो सकता जब तक कि उसकी प्रवृत्तियाँ, क्रियाएँ तथा संस्थाएँ परम्पराओं से प्रभावित रहती हैं। परम्पराओं से प्रभावित होकर यदि व्यक्ति कोई कार्य करते हैं तो यह आधुनिक स्वतुल्यता के विरुद्ध है। गिड़िन्स का मानना है कि यदि कोई समाज आधुनिक बनने के लिए प्रत्यक्ष रुप से दिखाई देने वाली संस्थाओं जैसे पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था को तो अपनाता है परन्तु दूसरी परम्पराओं जैसे लिंग असमानता (Gender Inequality) को उखाड़ कर नहीं फेंक सकता तो उसके आधुनिक समाज बनने के प्रयास में असफल होने की प्रबल सम्भावना है। आधुनिक समाज में स्वःपहचान (Self Identity) एक अपरिहार्य मुद्दा (inescapable issue) बन जाती है। आधुनिक समाज में व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में दैनिक प्रश्नों (जैसे वस्त्र, उपस्थिति तथा रिक्त समय) से लेकर अपने सम्बन्धों, विश्वासों तथा व्यवसायों के विषय में उच्च प्रभावी निर्णयों को लेने के लिए अपरिहार्य रुप से बाध्य होते हैं।

उच्च आधुनिकता की प्रमुख विशेषताएँ

गिड़िन्स के अनुसार वैश्वीकरण एक ऐसी प्रघटना है जिसको 'आधुनिकता' के संदर्भ से बाहर जाकर नही समझा जा सकता क्योंकि वैश्वीकरण का उद्भव आधुनिकता से ही हुआ हैं। उनका तर्क है कि वास्तव में आधुनिकता स्वयं ही वैश्वीकृत हो रही है तथा इसका प्रमाण आधुनिक संस्थाओं की उन कुछ मूलभूत विशेषताओं, विशेष रुप से उनकी डिस्एम्बेडिंडनेस अथवा संबंधों के बिखराव व स्वतुल्यता (discmbeddedness and reflexivity) में मिलता है। आधुनिकता सामाजिक जीवन का एक गतिमान तथा रुपान्तरित स्वरुप है जिसका उदय यूरोप में 17वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ तथा बाद में जिसका प्रभाव न्यूनाधिक सम्पूर्ण विश्व में देखा जा सकता है। इसको पूर्ववर्ती समाजों से मुख्यतः सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता, इसके क्षेत्र तथा आधुनिक संस्थाओं के प्रफलन (Proliferation) तथा विकास के द्वारा स्पष्ट रुप से अलग किया जा सकता है। यद्यपि इन सभी में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका समय तथा स्थान (Time and Space) के रुपान्तरण की है। *आधुनिकता की यह विशेषता गिड़िन्स के अवधारणात्मक प्रारुप की पहली विशेषता है। जिसका प्रयोग उन्होंने हाल ही में वैश्वीकरण की व्याख्या में भी किया है।*

आधुनिकता के अंतर्गत स्थान तथा समय के रुपान्तरण का अर्थ है कि सभी पूर्व–आधुनिक संस्कृतियों में समय, स्थान (place) के साथ तभी तक सम्बद्ध था जब तक की यांत्रिक घड़ी द्वारा समय के मापन में एकरुपता से मिला नहीं दिया गया अर्थात पूर्व–आधुनिक समाज में समय तथा स्थान एक–दूसरे से जुड़े थे। हर समाज में समय का मापन अपने हिसाब से किया जाता था उदाहरण के

लिए भारत में समय की गणना भारतीय खगोलशास्त्रीय पद्वति के अनुसार की जाती थी जिसकी इकाईयाँ घटी, प्रहर आदि थी। इसी प्रकार सभी समाजों मे समय की गणना स्थानीय पद्धति से समय का मापन करने के लिए यांत्रिक घड़ी का आविष्कार होने पर समय को स्थान से पृथक कर दिया गया तथा समय के सामाजिक संगठन में एकरुपता ला दी गयी जैसे कि आज सम्पूर्ण विश्व में एक दिन 24 घंटे का होता है जिसको सभी समाजों ने स्वीकार कर लिया है तथा आज समय का मापन एक ही याँत्रिक घड़ी से किया जाता है। स्थानीय समय के अनुसार घड़ी को आगे या पीछे कर लिया जाता है। इसके अतिरिक्त समाज की गतिविधियों के संगठन में भी एकरुपता आ गई है, जैसे आज हम सभी एक सी अवधाराणाओं का प्रयोग करते है जैसेः– सुबह, शाम, रात्रि, आफिस टाइम, लंच टाइम, डिनर टाइम, ब्रेक फास्ट टाइम, टी/काफी टाइम आदि। समय के इस रुपान्तरण ने जहाँ एक ओर वैश्विक स्तर पर एक प्रमाणिक कलेंडर को प्रचलित कर दिया तो वही क्षेत्रों से ऊपर उठकर समय को भी स्थापित कर दिया। गिड़िन्स का यह दावा है कि 'समय की रिक्तता', 'स्थान की रिक्तता' हेतु आवश्यक पूर्वदशा का एक बड़ा भाग थी तथा एक अर्थ में इसका कारण भी क्योंकि समय के अनुसार समायोजन स्थान के नियंत्रण का आधार है। उनके अनुसार 'रिक्त स्थान' (empty space) के विकास को स्पेस तथा प्लेस के पृथक्करण के रुप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सामाजिक संबधों की एक व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति भौतिक रुप से परस्पर जुड़े होते हैं। आधुनिकता ने 'स्पेस' को 'प्लेस' की इस धारणा से उत्तरोत्तर (Progressive) अलग कर दिया।

2. सामाजिक व्यवस्थाओं के विस्थापन की प्रक्रिया

समय तथा स्पेस के इस पृथक्करण को समरेखीय विकास (Unilinear develoment) के रुप में नहीं देखना चाहिए। गिड़िन्स का तर्क है कि इसके तीन पक्ष हैं इनमें से सर्वप्रथम, अंतःस्थापन की प्रक्रियाओं की प्रारम्भिक अवस्था है। द्वितीय, यह आधुनिक जीवन की प्रभेदक विशेषता–तार्किक संगठन के लिए गियर व्यवस्था (gearing mechanism) का कार्य करता है। तृतीय, आधुनिकता की मूलभूत ऐतिहासिकता (Radical Historicity) समय तथा शून्य में अंतर्निवेश के प्रकारों पर निर्भर करती है जो कि पूर्ववर्ती सभ्यताओं मे उपलब्ध नहीं थें। इस अर्थ में इतिहास भविष्य का स्वरुप निर्धारित करने हेतु भूतकाल का व्यवस्थित विनियोजन (Systematic appropriation) है। यह तीनों पक्ष, आधुनिकता को चरम गत्यात्मकता (extreme dynamism) प्रदान करते हैं परन्तु इनमें से प्रथम विस्थापनीकरण (disembedding) की क्रेन्द्रीय प्रक्रिया है जिसके फलस्वरुप वैश्वीकरण की उत्पत्ति हुई तथा अभी भी यह निरंतर वैश्वीकरण को गति प्रदान करती है। गिड़िन्स के अनुसार विस्थापनीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने सामाजिक सम्बंधों को अतःक्रिया के स्थानीय संदर्भ से उठाकर समय–शून्यता के अनिश्चित विस्तार में उनका पुनर्गठन कर दिया है। समाजशास्त्रियों ने परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में रुपान्तरण के प्रक्रिया की विवचेना 'विभेदीकरण' तथा 'प्रकार्यात्मक विशिष्टीकरण' की अवधारणाओं के माध्यम से की थी। इस मत के अनुसार लघुस्तरीय व्यवस्थाओं से कृषि सभ्यताओं तथा इसके पश्चात आधुनिक समाज में परिवर्तन को धीमी गति से हो रहे आंतरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया के रुप में देखा है। इस धारणा पर कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती है। यह एक प्रकार का उद्विकासवादी दृष्टिकोंण है जो सामाजिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण में 'सीमा की समस्या' (boundary problem) पर

ध्यान नहीं देता है तथा प्रायः प्रकार्यवादी धारणाओं पर निर्भर करता है। यहाँ अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह समय–शून्य दूरत्वीकरण (Time Space distantiation) के मुद्दे को संतोषजनक रुप से नहीं देखता है विभेदीकरण तथा प्रकार्यत्मक विशिष्टीकरण सामाजिक व्यवस्था द्वारा समय तथा शून्यता को कोष्ठीकरण की प्रघटना के प्रबंधन हेतु अधिक उपयुक्त नही है।

विस्थापनीकरण के द्वारा निर्मित चित्र समय तथा शून्यता के स्थानांतरित सुनियोजन स्तर व द्रव्यता को बेहतर तरीके से चित्रित करने में समर्थ है। जो सामान्य रुप से सामाजिक परिवर्तन तथा विशेष रुप से आधुनिकता की प्रकृति के लिए मूलरुप से महत्वपूर्ण है।

गिड़िन्स ने दो प्रकार के विस्थापनीकरण में विभेद किया है जो आधुनिक सामाजिक संस्थाओं के विकास में वस्तुतः सम्मिलित होते हैं: (1) सांकेतिक प्रतीकों की रचना (Creation of Symbolic tokens); तथा (2) विशेषज्ञ व्यवस्थाओं की स्थापना।

(1) सांकेतिक प्रतीकों की रचना (Creation of Symbolic tokens)

सांकेतिक प्रतीकों से तात्पर्य विनिमय के उन माध्यमों से है जिनको किसी व्यक्ति अथवा समूह के विशिष्ट लक्ष्णों का संदर्भ लिए बिना लेन–देन के लिए प्रयोग में लाया जा सके। समाज में विभिन्न प्रकार के सांकेतिक प्रतीक हो सकते है जैसे राजनीतिक वैधता के माध्यम। परन्तु इसके मुद्रा (money) के प्रतीक से अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र दोनों में मुद्रा की प्रकृति का विस्तृत रुप से विवेचन किया गया है।

अपने आरम्भिक कृतियों मे मार्क्स ने मुद्रा को एक 'सार्वभौमिक वैश्या' की संज्ञा देते हुए इसे विनिमय का ऐसा माध्यम बताया है जो वस्तुओं तथा सेवाओं की अंतर्वस्तु को नकारते हुए उनके स्थान पर एक अवैयक्तिक मानक (impersonal standard) को स्थापित करता है। मुद्रा किसी भी वस्तु का किसी भी अन्य वस्तु से विनिमय की स्वीकृति प्रदान करती है, बिना इस बात का संदर्भ लिए कि इन वस्तुओं में कोई समान गुण है अथवा नहीं। मार्क्स की मुद्रा पर की गई आलोचनात्मक टिप्पणि़याँ उसके द्वारा बाद में उपयोग मूल्य (use-value) तथा विनिमय मूल्य में किए गए अंतर से सम्बन्ध रखती है। इसकी 'विशुद्ध वस्तु' (pure commodity) के रुप में भूमिका होने के कारण मुद्रा विनिमय मूल्य के सामन्यीकरण को संभव बनाती है।

मुद्रा के विषय में प्रसिद्ध समाजशास्त्री टालकॉट पारसन्स के विचार भी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार मुद्रा आधुनिक समाजो में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के 'संचरणशील माध्यमों' (Circulatay Media) में से एक है। दूसरे माध्यमों में वे शक्ति (power) तथा भाषा (language) को सम्मिलित करते हैं। यद्यपि गिड़िन्स की सांकेतिक प्रतीकों की धारणा पारसन्स की उपरोक्त धारणा से जुड़ी हुई है परन्तु गिड़िन्स शक्ति तथा भाषा को मुद्रा अथवा अन्य विस्थापनीकरण की क्रियाविधियों के समकक्ष नहीं मानते क्योंकि शक्ति तथा भाषा का प्रयोग एक बहुत ही सामान्य स्तर पर सामाजिक क्रिया के वास्तविक लक्षण हैं ना कि विशिष्ट सामाजिक स्वरुप। आधुनिक समाजों में धन, समय–शून्यतः दूरत्वीकरण का एक माध्यम है। धन, समय तथा शून्यता में विस्तृत रुप से अलग एजेंटो के मध्य होने वाले सौदों की व्यवस्था को बनाता है। आधुनिक मौद्रिक अर्थव्यवस्था द्वारा प्रदत्त विस्थापन पूर्व आधुनिक सभ्यताओं की तुलना में बहुत अधिक होता है। आज धन, उन सभी साधनों

से स्वतंत्र है जो इसका प्रतिनिधित्व करते हैं तथा यह एक विशुद्ध सूचना का आकार/स्वरुप ले चुका है जो एक कम्प्यूटर के प्रिंट आउट में दर्ज रहती है। अतः धन, आधुनिकता के साथ जुड़ी विस्थापन कार्यविधियों का एक उदाहरण हैं

(2) विशेषज्ञ व्यवस्थाएँ

सभी विस्थापन कार्यविधियाँ, सांकेतिक प्रतीक तथा विशेषज्ञ व्यवस्थाएँ दोनों ही 'विश्वास' (trust) पर निर्भर करती हैं। इस प्रकार विश्वास, आधुनिक सामाजिक संस्थाओं के साथ मूल रुप से जुड़ा है। यहाँ पर विश्वास, किसी व्यक्ति में निहित न होकर अमूर्त क्षमताओं में निहित होते हैं। उदाहरण के लिए मौद्रिक संकेतों का उपयोग कोई व्यक्ति इस प्रकल्पना के आधार पर करता है कि अन्य व्यक्ति जिनसे वह कभी नहीं मिला, इसके मूल्य का सम्मान करेंगे। परन्तु वास्तव में विश्वास व्यक्ति पर न होकर धन अथवा मुद्रा में होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है।

जहाँ तक विशेषज्ञ व्यवस्थाओं की प्रकृति का सम्बंध है, गिड़िन्स ने इसे तकनीकी निपुणता की व्यवस्थाओं अथवा व्यैक्तिक विशेषज्ञता (Proferricnal expertise) के रुप में परिभाषित किया है जो उन भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरणों के बड़े क्षेत्रों को संगठित करती हैं, जिनमें आज हम रहते हैं। अधिकतर आम व्यक्ति इन विशेषज्ञों जैसेः वकील, आर्किटेक्ट, डॉक्टर इत्यादि को किसी एक विशेष समय अथवा अस्थायी रुप से परामर्श लेते हैं। परन्तु वे व्यवस्थायें जिनमें विशेषज्ञों का ज्ञान समाहित होता है, हमारे द्वारा किए गए कार्यो के अनेकों पक्षों को प्रभावित करती है। सिर्फ अपने घर में बैठे रह कर भी मैं एक विशेषज्ञ व्यवस्था या ऐसी व्यवस्थाओं के एक क्रम से जुड़ा रहता हूँ जिनमें मेरा विश्वास निहित होता है। मुझे अपने घर में सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर जाने मे कोई भय नहीं लगता यद्यपि मैं जानता हूँ कि सिद्धान्त रुप में यह घर गिर सकता है। मुझे मकान के डिजाइन तथा निर्माण में आकिटेक्ट तथा बिल्डर द्वारा उपयोग किए गए तकनीकी ज्ञान के बारे में बहुत कम ज्ञात होता है फिर भी मेरा उनके द्वारा किए गए कार्य में विश्वास रहता है। मेरा विश्वास उन व्यक्तियों में उतना अधिक नहीं है परन्तु मुझे उनकी निपुणता मे विश्वास है क्योंकि उनके द्वारा प्रयुक्त विशेष ज्ञान की प्रमाणिकता एक ऐसी चीज़ है जिसको में स्वयं विस्तृत रुप से जाँच नही सकता। जब मैं अपने घर से बाहर कार में जाता हूँ तो मैं एक ऐसे विन्यास में प्रवेश करता हूँ जो पूर्ण रुप से विशिष्ट ज्ञान द्वारा निर्मित है, जिसमें आटोमोबाइल के ड़िजाइन तथा निर्माण, हाईवे, चौराहे, लालबत्ती तथा दूसरी चीजे भी सम्मिलित हैं।

उच्च आधुनिकता की चौथी विशेषता है स्थायी स्वतुल्यता (Chronic reflexivity) प्रंबधन तथा नवीन ज्ञान के प्रकाश में सामाजिक संबन्धों की पुर्नव्यवस्था करना। गिड़िन्स का तर्क है कि आज के युग में ज्ञान को, चाहे उसकी प्रकृति वैज्ञानिक हो अथवा सामाजिक, अस्थायी तथा परिवर्तनीय समझा जाता है जबकि पूर्व के समाजों में परम्परा, सत्ता, प्रथा तथा धर्म अपेक्षाकृत रुप से स्थायित्व प्रदान करते थे। इस प्रकार ज्ञान के मूलभूत आधार में एक निंरतर परिवर्तन हो रहा है तथा व्यक्ति इसकी हमेंशा जाँच करते रहते हैं तथा हम इसका प्रयोग परिवर्तित क्रियाओं तथा सामाजिक सम्बंधों के आधार के रुप में करते है। आधुनिकता की स्वतुल्यता विशिष्ट ज्ञान तथा सामान्य क्रियाओं मे प्रयुक्त ज्ञान के बीच सम्बन्ध को स्थाई नहीं करती। विशेषज्ञ अवलोकनकर्ताओं द्वारा आधिकारिक ज्ञान अपनी

विषयवस्तु का प्रतिउत्तर देता है तथा इस प्रकार उसमें परिवर्तन लाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भौतिक विज्ञानों के विकास की प्रक्रिया में परिलक्षित होता है।

आधुनिकता अथवा उत्तर–आधुनिकता

गिड़िन्स ने स्वतुल्यता की धारणा को उत्तर आधुनिकता की बहस से जोड़ने का प्रयास किया है। उत्तर–आधुनिकता को प्रायः उत्तर–आधुनिकतावाद, उत्तर–औद्योगिक समाज आदि के पर्यायवाची के रुप में प्रयुक्त किया जाता है तो इसको साहित्य, पेंटिग, प्लास्टिक आर्ट तथा आर्किटेक्चर के अंतर्गत हुए आंदोलनों तथा शैलियों के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इसका सम्बंध आधुनिकता की प्रकृति पर सौंदर्यपरख चिन्तन के पक्षों से है। यद्यपि आधुनिकतावाद को कई बार अस्पष्ट रुप से परिभाषित किया गया है तथा कई बार साहित्य एवं कला आदि क्षेत्रों में कई विशिष्ट दृष्टिकोंण प्रचलित रहे है जिन्हें आधुनिकता वाद से जोड़कर देखा जाता रहा है। उत्तर–आधुनिकतावाद के प्रभावों ने इन उपरोक्त दृष्टिकोणों को विस्थापित कर दिया है। परन्तु उत्तर–आधुनिकता इससे कुछ अलग है। यदि हम उत्तर–आधुनिकता की अवस्था में प्रवेश कर रहे हैं तो इसका अर्थ है कि सामाजिक विकास का प्रक्षेप पथ (trajectary) हमें आधुनिकता कि संस्थाओं से परे एक नवीन तथा भिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की ओर ले जा रही है। उत्तर–आधुनिकतावाद, यदि वास्तव में इसका अस्तित्व है, तो यह इस प्रकार के संक्रमण (transition) के विषय में जागरुकता को प्रकट करता है परन्तु यह नहीं दर्शाता कि इस अवस्था का वास्तव में अस्तित्व है या नही।

सामान्यतः उत्तर–आधुनिकता का क्या अर्थ है? एक ऐसी धारणा के अतिरिक्त कि हम ऐसे काल में रह रहे हैं जो पूर्व काल से काफी भिन्न है इसके प्रायः अन्य अर्थ भी लगाए जाते है जो कि निम्नवत हैः कि हम लोगों ने इस बात की खोज कर ली है कि किसी भी वस्तु के बारे में निश्चित रुप से नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि पहले से अस्तित्व में रही सभी ज्ञान–पद्दतिशास्त्र के आधारों को अवश्विसनीय साबित किया जा चुका हैः इतिहास उद्देश्यवाद कि रिक्तता (devoid of teleology) है तथा इसके फलस्वरुप प्रगति कि किसी भी अवस्था का बचाव करना सम्भव नहीं हैः कि एक नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम अस्तित्व में आ गया है जिसमें पर्यावरणीय मुद्दों तथा शायद नये सामाजिक आंदोलनों की प्रधानता है। शायद ही आज कोई उत्तर–आधुनिकता को पूर्व में विस्तृत रुप से स्वीकृत उस अवधारणा को स्वीकार करेगा जिसमें समाजवाद द्वारा पूँजीवाद के विस्थापन की बात कही गई थी। इस प्रकार के परिवर्तन को केंद्रीय पटल से एक ओर ढकेलते हुए वास्तव में आधुनिकता के सम्भावित विसर्जन (dissolution) के बारे में प्रस्तुत वर्तमान विवेचनों को प्रेरित करने वाले कई कारकों में से एक यह भी है जो मार्क्स द्वारा इतिहास के एक समग्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। सबसे पहले हमें गम्भीर बौद्धिक विचार विमर्श में अनुचित विचार को अस्वीकार करना होगा कि मानव क्रिया अथवा सामाजिक विकास की प्रवृतियों का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना संभव नही हैं। गिड़िन्स ने उत्तर–आधुनिकता के भिन्न सूत्रों की तुलना मे अपने अवधारणात्मक सूत्रों को निम्नलिखित तालिका 1 (पृष्ठ 52) के रुप में प्रस्तुत किया है। अपनी इस अवधारणा को उन्होंने कट्टर आधुनिकता की संज्ञा दी है।

तालिका 1 के विवेचन से स्पष्ट है कि एन्थोनी गिड़िन्स का यह दृढ़ विश्वास है कि उत्तर–आधुनिकतावादी विचारकों की यह धारणा नितान्त बेतुकी एवं भ्रामक है कि आधुनिकता–परियोजना (Project of Modernity) समाप्त हो गई है तथा एक नयी सामाजिक व्यवस्था जन्म लेगी जो आधुनिक समाज से एकदम विछिन्न एवं पृथक होगी। गिड़िन्स उत्तर–आधुनिकता की इस अवधारणा को अस्वीकृत करते हुए एक नयी अवधारणा 'उग्र आधुनिकता' (Radicalised Modernity) का प्रतिपादन करते हैं जिसका उदय आधुनिकता की संस्थाओं में हो रहे रुपान्तरण के फलस्वरुप हो रहा है। रुपान्तरण की इस प्रक्रिया को आगे चलकर वह अपनी वैश्वीकरण की व्याख्या में भी सम्मिलित कर लेते हैं।

गिड़िन्स द्वारा वैश्वीकरण की व्याख्या

गिडिन्स के अनुसार वैश्वीकरण आधुनिकता की आवश्यक गत्यात्मकता की गहनता तथा विकास एवं इसके द्वारा शून्यता तथा समय के निरन्तर रुपान्तरण का प्रतिनिधित्व करता है। समकालीन वैश्वीकरण को समझने के लिए समय 'शून्यता दूरत्वीकरण' (Time-space distanciation) की प्रक्रियाओं की प्रकृति को समझना आवश्यक है। इस प्रारुप की केंद्रीय मान्यता स्थानीय संलग्नताओं (सह–उपस्थिति की परिस्थितियाँ) तथा दूरस्थ अंतर्क्रिया (उपस्थिति तथा अनुपस्थिति के सम्बन्ध) के मध्य सम्बन्धों की अवधारणा बनाने की आवश्यकता है गिडिन्स का तर्क है कि आधुनिक युग में समय शून्यता, दूरत्वीकरण का स्तर किसी भी पूर्व काल की तुलना में आज कहीं अधिक है। इसके आगे स्थानीय तथा दूरस्थ सामाजिक स्वरुप तथा घटनाओं के मध्य सम्बंधों में एक जटिल खिंचाव उत्पन्न हो गया है। खिंचाव की यह प्रक्रिया ही वैश्वीकरण का मूल तत्व है। इसका परिणाम यह हुआ है कि समकालीन सामाजिक जीवन को अधिकाधिक रुप से इन विस्तारित सम्बंधों के प्रकारों की विशेषता बताती है क्योंकि विभिन्न सामाजिक संदर्भ अथवा क्षेत्र पूर्ण रुप से पृथ्वी की सतह के साथ एक जाल (Network) बना लेते हैं। इस दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए उन्होंने वैश्वीकरण को विश्वव्यापी सामाजिक सम्बंधो की गहनता (intensification) के रुप में परिभाषित किया है जो दूरस्थ स्थानों को इस प्रकार जोड़ते हैं कि स्थानीय घटनायें मीलों दूर हो रही घटनाओं से प्रभावित होने लगती हैं। अथवा इसके विपरीत भी स्वयं उनको प्रभावित करने लगती हैं। इसकी आगे व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि यह अर्न्तनिहित रुप से द्वन्दात्मक प्रक्रिया द्वारा घटित होती हैं क्योंकि 'स्थानीय घटनाएँ' उनको आकार देने वाले दूरस्थ सम्बंधों से आगे की दिशा में गतिमान होने लगती हैं। गिडिन्स (1991) ने इसको दो उदाहरणों द्वारा समझाया है। इनमें से पहला उदाहरण नगरीय आर्थिक विकास का हे जहाँ वैश्विक सम्बंध किसी एक नगर में सम्पन्नता उत्पन्न कर सकते हैं तो वहीं समान किस्म की प्रक्रियायें किसी अन्य शहर में आर्थिक पतन उत्पन्न कर सकती है उनका तर्क है कि यह एक ही प्रक्रिया है जो द्वन्दात्मक रुप से दो विपरीत परिणामों को उत्पन्न कर रही होती है। दूसरा उदाहरण इसी प्रकार वैश्वीकृत सामाजिक सम्बंधों के विकास का है जो कुछ स्थानों पर राष्ट्रीयता के एहसास के कुछ पक्षों को शक्तिहीन करती हैं। तो वहीं उसी समय अधिक स्थानीयकृत राष्ट्रीय भावनाओं की वृद्धि में कारणात्मक रुप से जुड़ जाती हैं।

गिडिन्स ने अंतरराष्ट्रीय सम्बंधों के सिद्धान्त (I. R. Theory) विभिन्न राष्ट्र राज्यों के मध्य अंतःक्रिया से सम्बंधित समस्याओं (जो पूरी तरह गलत नहीं है,) तथा इस धारणा को कि विश्व राज्य व्यवस्था धीरे–धीरे अधिक एकीकृत हो गयी है, को निर्विवादित रुप से स्वीकार किया है। इसलिए वह

तालिका 1: उत्तर आधुनिकता (Post Modernity) तथा उग्र आधुनिकता (Radicalised Modernity) की अवधारणाओं का तुलनात्मक विवरण

उग्र आधुनिकता	उत्तर आधुनिकता
1. इसके अंतर्गत उन संस्थागत विकासों को चिन्हित किया जाता है जो विखण्डन तथा बिखराव उत्पन्न करते हैं।	1. वर्तमान संक्रमण को ज्ञान पद्दति शास्त्र के अर्थ में अथवा ज्ञान पद्यति शास्त्र की पूर्ण समाप्ति के रुप में समझा जाता है।
2. उच्च आधुनिकता को ऐसी परिस्थितियों के समुच्चय (set) के रुप में देखा जाता है जिसमे वैश्विक एकीकरण की ओर अग्रसर गहन प्रवृतियों को बिखराव से द्वन्दात्मक रुप से जोड़ती हैं।	2. वर्तमान सामाजिक रुपान्तरणों की अपकेंद्रीय प्रवृत्तियों तथा उनको अव्यवस्थित कर देने की विशेषता पर ध्यान केंद्रित किया जाता हैं
3. आत्म को प्रतिच्छेदित शक्तियों (intersecting forces) के स्थल से कहीं अधिक रुप में देखा जाता है: आधुनिकता द्वारा स्वतुल्य आत्मसमरुपता (Self Identity) की सक्रिय प्रक्रियाओं को सम्भव बनाया जाता है।	3. आत्म (Self) को अनुभव के विखण्डन द्वारा समाप्त अथवा विभाजित रुप में देखा जाता है।
4. इस बात पर बल देते हैं कि सत्यता के दावों की सार्वभौमिक विशेषताएँ हम पर स्वयं को एक अनिवार्यतः एक वैश्विक प्रकार की समस्याओं को प्राथमिकता प्रदान करने के लिए दबाव डालती हैं।	4. सत्यता के दावों की प्रासंगिकता पर बल देते हैं अथवा उन्हे 'ऐतिहासिक' रुप में देखते हैं।
5. शक्ति विहीनता तथा अधिकार–प्रदान (empowerment) की प्रक्रिया के मध्य द्वन्द को अनुभव तथा क्रिया दोनों रुप में देखा जाता है।	5. वैश्वीकरण की प्रवृत्तियों के सम्मुख व्यक्यिों द्वारा अनुभव की जाने वाली शक्ति विहीनता को सिद्धान्त के रुप में देखते हैं।
6. दिन प्रतिदिन के जीवन को अमूर्त व्यवस्थाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं की एक सक्रिय समष्टि (complex) मानते हैं जिसमें उपयोग तथा हानि दोनों सम्मिलित हैं।	6. दिन प्रतिदिन के जीवन की 'शून्यता' (emptying) को अमूर्त व्यवस्थाओं के अतिक्रमण का परिणाम मानते हैं।
7. संचालित राजनीतिक अनुबंधों को वैश्विक तथा स्थानीय दोनों स्तरों पर सम्भावित तथा आवश्यक मानते हैं।	7. संचालित राजनीतिक अनुबंध को प्रासंगिता द्वारा बाधित देखते हैं।
8. उत्तर–आधुनिकता को आधुनिकता की संस्थाओं से आगे की ओर हो रहे सम्भावित रुपान्तरणों के रुप मे देखते हैं।	8. उत्तर–आधुनिकता को ज्ञान पद्दति शास्त्र/व्यक्ति/आचारसंहिता के अंत के रुप में परिभाषित करते हैं।

वालेरस्टीन की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि उन्होंने रुढ़िवादी समाजशास्त्रीय विचारधारा की सीमाओं तथा राज्यों के भीतर सामाजिक परिवर्तन के अंतर्जनित प्रारुपों (indegenous models) के जुनून को सफलतापूर्वक तोड़ा है। विशेष रुप से वह वालेरस्टीन को वैश्वीकृत सम्बंधों पर ध्यान परिवर्तित करने का श्रेय देता है। परन्तु साथ ही उसकी इस बात के लिए आलोचना भी करता है कि उसने आधुनिक रुपान्तरणों के लिए सिर्फ एक प्रभावशाली संस्थागत सम्बंध (पूंजीवाद) को उत्तरदायी बताते हुए एक संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वालेरस्टीन के विश्वव्यवस्था उपागम की एक बड़ी कमी यह है कि वह न तो राष्ट्र राज्य व्यवस्था के विकास, और न ही शक्ति के राजनीतिक अथवा सैन्यकेंद्रण को अलंकृत करने, जिनका आार्थिक विभेदीकरण के साथ सही तालमेल नहीं बैठता है, का विवेचन करने में असमर्थ है।

इसी कारण गिड़िन्स का प्रस्ताव है कि 'विश्वव्यापी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था' वैश्वीकरण के चार पक्षों में से एक है। वैश्वीकरण के अन्य तीन पक्ष हैः (1) राष्ट्र राज्य (Nation-Sate) (2) विश्व सैन्य व्यवस्था (World Military Order) तथा (3) अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन (International division of Labour)

राष्ट्र राज्य के सम्बंध मे ंगिडिन्स का तर्क है कि विश्व अर्थव्यवस्था में शक्ति का प्रमुख केंद्र पूँजीवादी राज्य है। यद्यपि आर्थिक गतिविधि की प्रमुख प्रतिनिधि–फर्म कुछ सीमा तक राजनीतिक क्षेत्र से अलग रहते हुए बहुत अधिक आर्थिक शक्ति का उपयोग कर सकतीं हैं। परन्तु कुछ मुख्य विषयों में वे राज्य के साथ शक्ति के सम्बंध में प्रतिद्धन्दता नहीं कर सकतीं। यह क्षेत्र आवश्यक रुप से प्रादेशिक तथा हिंसा के साधनों पर नियंत्रण रखना है उन्होंने इस बात पर बल दिया कि पृथ्वी की सतह पर ध्रुवीय क्षेत्रों के आंशिक अपवाद के साथ कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो किसी एक या अन्य राज्य के वैधानिक रुप से नियंत्रित क्षेत्र के अंर्तगत न आता हो। इस प्रकार राज्य तीसरे पक्ष–सैन्य व्यवस्था से बँधा हुआ है, जो कि युद्ध के औद्योगीकरण, शस्त्रों के प्रवाह तथा सैनिक संगठन की तकनीकियों के मध्य विश्व के कुछ भागों से तथा उन गठजोड़ों से जुड़ा है जो एक राज्य दूसरे राज्य से स्थापित करता है। उनका मानना है कि यह सम्बंध ठीक उसी प्रकार द्धन्दात्मक 'पुश–पुल' के रुप में अस्तित्व में आते हैं जैसा कि शीत युद्ध के समय अमेरिका तथा सोवियत रुस के मध्य अन्य पक्षों में देखे जा चुके हैं, जो आवश्यक रुप से एक सैन्य गठजोड़ की एक द्विध्रुवीय (bipolar) व्यवस्था का निर्माण करते थे, जिसका विस्तार वैश्विक था। इस सैन्य गठजोड़ मे शामिल राष्ट्र आवश्यक रुप से स्वतंत्र सैन्य व्यूह रचनाओं को बाह्य रुप से निर्माण करने की अपनी सम्भावनाओं में कमियों को स्वीकार करेंगे। इसके अतिरिक्त सैन्य शक्ति का वैश्वीकरण हथियारों तथा गठजोड़ो तक ही सीमित नहीं है अपितु यह स्वयं युद्ध से सम्बन्धित है। गिडिन्स का तर्क है कि दो विश्व युद्धों ने यह सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार स्थानीय संघर्षो में वैश्विक संलग्नता हो जाती है। इस प्रकार जबकि परमाणु शस्त्र मुख्य शक्तियों के बीच इस प्रकार के युद्ध को रोकते हैं फिर भी परिधीय क्षेत्रों में जोरदार युद्धों की एक श्रृंखला को प्रोत्साहित करते हैं। चौथे पक्ष– औद्योगिक विकास– का सम्बन्ध वैश्विक श्रम विभाजन के विस्तार तथा उत्पादन के भूगोल से सम्बन्धित हैं। उनका तर्क है कि कंपनियाँ तथा राज्य दोनों ही जटिल द्धन्दात्मक प्रक्रियाओं से बँधे हुए है जो विश्व स्तरीय वर्ग सम्बंधों को उत्पन्न करते हैं तथा श्रमिकों को उत्पादन के साधन से अलग करते हैं। यह वैश्वीकृत औद्योगिक विकास विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विभेदीकरण को दो स्तरों पर निर्देशित करता हैः (1) व्यवसायिक कार्य के स्तर पर तथा (2)

क्षेत्रीय विशेषज्ञता के स्तर पर (उद्योग के प्रकारों, कौशलों तथा कच्चे माल के उत्पादन के अर्थ में)। उन्होंने मशीनी तकनीकियों के विसरण को वैश्वीकृत औद्योगिकवाद की एक प्रमुख विशेषता बताया हैं तथा इस बात पर बल दिया है कि यह न केवल उत्पादन के क्षेत्र को प्रभावित करती है अपितु दिन प्रतिदिन के जीवन के अनेक पक्षों को भी प्रमाणित करती है। इससे भी आगे औद्योगिकवाद का यह विसरण एक अधिक नकारात्मक तथा धमकी देने के अर्थ में एक नयी दुनिया का निर्माण करता है– एक ऐसी दुनिया जहाँ, हानिकारक किस्म के वास्तविक अथवा स्थतिज पारिस्थितकीय (Ecological) परिवर्तन पृथ्वी के सभी प्राणियों को प्रभावित करते है। गिडिन्स ने सांस्कृतिक वैश्वीकरण को उत्पन्न करने में यान्त्रिक संचार तकनीकियों की भूमिका की भी चर्चा की है। इसको वह आधुनिकता की स्वतुल्यता के एक आवश्यक तत्व के रुप में देखते हैं तथा वे अनिरन्तरतायें (Discontinuities) जिन्होंने परम्रागत तरीकों को आधुनिकता से पूर्ण रुप से विच्छेदित कर दिया। इस जागरुकता पर बल देने की अपेक्षा कि वैश्वीकृत मीडिया व्यक्तियों को पूरी विश्व की उन सभी घटनाओं की जानकारी देता है जिसके बारे में वे अन्यथा अनभिज्ञ रहते, उनका सुझाव है कि इससे अधिक महत्वपूर्ण आधुनिकता की संस्थाओं का वैश्विक विस्तार है, जिसका 'समाचार' कहे जाने वाले ज्ञान के संग्रह के बिना असंभव था।

अब यदि वैश्वीकरण आधुनिकता का एक परिणाम है तो इसका प्रभाव वैश्विक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्रीय समाजों में नीचे कई स्तरों पर होना चाहिए। वैश्वीकृत आधुनिकता के अंतर्गत अधिक से अधिक संख्या में लोग ऐसी परिस्थितियों में रहते हैं जिनमें पृथकीकृत संस्थायें स्थानीय चलनों (Practices) को वैश्वीकृत सामाजिक सम्बंन्धों से जोड़ रही हैं व नित्य प्रति के जीवन के प्रमुख पक्षों को संगठित कर रही है। 'विश्वास' (Trust) की प्रकृति के लिए इसकी पहचान, तथा वैश्वीकरण और आधुनिकता के साथ उनके सम्बंधों के कई परिणाम हैं। विश्वास के सम्बंध में उनका तर्क है कि आधुनिक संस्थाओं की प्रकृति अमूर्त व्यवस्थाओं में विश्वास की कार्य विधि से गहनतापूर्वक सम्बद्ध है (अमूर्त व्यवस्था सांकेतिक चिन्हों तथा विशेषज्ञ व्यवस्थाओं के लिए एक सामूहिक शब्द है।) जैसे–जैसे आधुनिकता के अनेक पक्षों का वैश्वीकरण होता है तो इसका अर्थ है कि कोई भी इन अमूर्त व्यवस्थाओं से बाहर रहने का विकल्प नहीं रखता तथा विश्वास सम्बंध आधुनिकता के साथ जुड़ी विस्तृत समय शून्यता व दूरत्वीकरण के लिए आवश्यक हो जाते हैं। वह इस प्रस्थापना को इस तर्क से जोड़ते हैं कि पूर्व–आधुनिक समाजों से विपरीत, हमारी सत्तामूलक सुरक्षा (व्यक्तियों द्वारा अपनी आत्म पहचान (self Identity) तथा अपने पर्यावरण की स्थिरता, में महसूस किए जाने वाले आत्म–विश्वास के रुप में परिभाषित) तथा विशेष रुप में स्थान के साथ इसके सम्बंध को पृथकीकरण तथा समय–शून्य दूरत्वीकरण द्वारा बड़ी सीमा तक नष्ट कर दिया जाता है। विश्वास अपने स्थानीय संदर्भो से अधिक से अधिक रिक्त हो जाते हैं।

व्यक्तियों के स्तर पर 'पहचान' के लिए इसके पाँच प्रमुख परिणाम है।

(1) वैश्वीकरण व्यक्तियों के लिए आधुनिकता की वैश्वीकृत प्रवृत्तियों तथा दिन–प्रतिदिन के जीवन में स्थानीय घटनाओं के मध्य एक आंतरिक सम्बंध उत्पन्न करता है।

(2) व्यक्तियों को आत्म का निर्माण एक उद्देश्य (reflexive project) के रुप में करना होगा जिसको अमूर्त व्यवस्थाओं द्वारा प्रदत्त व्यूह–रचनाओं के मध्य अपनी पहचान सथापित करना है।

(3) आत्म–वास्तवीकरण (self-actualization) की प्रबल प्रेरणा को प्रदर्शित करते हैं जो कि मूल विश्वास पर आधारित होते हैं। व्यक्तिगत संदर्भो में ये केवल आत्म को दूसरों के समक्ष खोलकर स्थापित किये जा सकते हैं।

(4) व्यक्तिगत तथा कामोत्तेजना का 'सम्बन्धों' के रुप में निर्माण आत्म–प्रकटीकरण की पास्परिकता द्वारा निर्देशित होता हैं।

(5) आत्मसंतृप्ति (self-fulfilment) के लिए व्यक्ति चिन्ता पांचवा तत्व है जो एक भाग में बाह्य रुप से धमकी भरी दुनिया (जिसपर व्यक्तियों बहुत कम नियंत्रण होता है) के विरुद्ध एक 'स्वःकेंद्रित सुरक्षा' (a narcissistic defence) है तथा उन परिस्थितियों का एक सकारात्मक विनियोजन है जिसमें वैश्वीकरण प्रतिदिन के जीवन पर प्रभाव डालता है। इस प्रकार से वैश्वीकरण आत्म के रुपान्तरण तथा आधुनिकता की दशा में जकड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक अनुभव का रुपान्तरण करने के लिए बाध्य है।

वर्तमान सामाजिक जीवन का अंतिम मुख्य पक्ष जिसके प्रति गिडिन्स ने वैश्वीकरण की अपनी सैद्धान्तिक समझ से सम्बोधित किया है वह आधुनिक विश्व में जोखिम (risk) तथा खतरे (danger) की प्रकृति है। इस सम्बंध में उसका तर्क है कि आधुनिकता की विपदा–रुपरेखा (risk-profile) वैश्वीकृत सम्बंधों से बँधी हुई है। वैसे तो इसके कम से कम सात पक्ष हैं, परन्तु इनमें से चार पक्षों को गिडिन्स अधिक महत्वपूर्ण मानते है।

(1) गिडिन्स का तर्क है कि जोखिम का वैश्वीकरण दो प्रकार से हो रहा हैः एक तो इसकी गहनता के अर्थ मे (जैसे परमाणु युद्ध का खतरा) ˙ तथा दूसरा आकस्मिक घटनाओं की संख्या में बढ़ोतरी के अर्थ मे जो पृथ्वी पर रह रहे लोगों की बड़ी संख्या को प्रभावित करती है। (जैसे वैश्विक श्रम विभाजन)

(2) जोखिम रचित पर्यावरण अथवा समाजीकृत प्रकृति से उत्पन्न होता है (जिसे वह भौतिक पर्यावरण में ज्ञान के संचार के रुप में देखता है)

(3) तीसरा पक्ष संस्थागत जोखिम पर्यावरण का विकास है जो पुनः पृथ्वी पर रह रहे व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या के जीवन को प्रभावित करता है। वैश्वीकृत वित्तीय बाज़ार इसका एक अच्छा उदाहरण है।

(4) अंतिम जोखिम जागरुकता (risk-awareness) के तीन स्वरुप हैः

(1) '<u>जोखिम की जोखिम के रुप में जागरुकता</u>' जहाँ जोखिमों के विषय में अनभिज्ञता को धार्मिक अथवा जादुई ज्ञान द्वारा निश्चिंतता में नहीं बदला जा सकता जैसा कि पूर्व आधुनिक समाज़ों में होता था

(2) '<u>जोखिम की भली प्रकार विस्तृत जागरुकता</u>' जहाँ सामूहिक रुप से सामना किये जाने वाले खतरों से लगभग सभी परिचित होते है;

(3) '<u>विशेषता की सीमाओं की जागरुकता</u>' जहाँ कोई भी विशेषज्ञ नहीं है। गिडिन्स ने जोखिम के इन स्वरुपों के परिणामों की विस्तृत विवेचना की है परन्तु यहाँ पर उसके इस कथन को उद्धृत किया जा सकता है कि जोखिम तथा खतरे के यह सभी स्वरुप उस समय दैनिक जीवन के सभी पक्षों में व्याप्त हो जाते हैं जब स्थानीय तथा वैश्वीकृत का एक असाधारण प्रक्षेपण अधिक समतुल्य होने लगता है

अतः गिडिन्स के लिए आधुनिकता तथा वैश्वीकरण अविभाज्य प्रघटनाएँ हैं तथा एक की दूसरे के बिना इसकी व्याख्या अथवा प्रभावी रुप को समझना असम्भव है। उनके वैश्वीकरण के सिद्धान्त का क्षेत्र बहुत व्यापक हे जो समकालीन वैश्विक समाज तथा अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित सभी प्रचलित बहसों का सामना करता है कि इनका विकास किस प्रकार से हो रहा है। इस प्रकार उनकी वैश्वीकरण की धारणा वालेरस्टीन से बहुत आगे चली जाती है क्योंकि यह शास्त्रीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर इस बात का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करती है कि किस प्रकार वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ व्यक्तियों, संगठनों तथा राष्ट्र राज्यों को प्रभावित करती है तथा इनका कार्यक्षेत्र आर्थिक जगत से कहीं अधिक है। यद्यपि इन सबमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वह सैद्धान्तिक तथा अवधारणात्मक प्रारुप है जिसमें वह वैश्वीकरण को एक स्थानिक–लौकिक प्रघटना (spacio temporal phenomenon) के रुप में समझने पर बल देते हैं। गिड़िन्स का यह प्रारुप न केवल समकालीन वैश्वीकरण सिद्धान्त के लिए सबसे महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है अपितु वैश्वीकरण के विभिन्न पक्षों को समझने के लिए अमूर्त अवधारणाओं के एक समुच्चय (set) को भी प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

गिडिन्स, एन्थोनी 1991: कोन्ज़ीक्वेन्सिस आफ मोडरेनिटी, केम्ब्रेजः पॉलिटी.

जोन्स, एन्ड्रयू 2010: ग्लोबेलाइजेशनः की थींकर्स़, पॉलिटी।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 57–59

भारतीय अर्थव्यवस्था में खाद्य सुरक्षा का महत्व

स्वीटी जैन*

प्रस्तुत शोध पत्र खाद्य सुरक्षा एवं भारत के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतः खाद्य सुरक्षा की अवधारणा देश की समग्र जनसंख्या के लिये खाद्यान्नों की न्यूनतम मात्रा की उपलब्धता से सम्बन्धित है। कोई राष्ट्र खाद्यान्नों के उत्पादन के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो सकता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उस राष्ट्र के निवासियों को प्रत्येक समय पर्याप्त एवं पोषण की दृष्टि से उपयुक्त खाद्य आपूर्ति दीर्घकालीन आधार पर उपलब्ध हो रही हो। खाद्य सुरक्षा के माध्यम से समय के साथ बढ़ती जनसंख्या एवं उपभोग की आवश्यकताओं के अनुरुप, खाद्य की आपूर्ति समाज के सभी वर्गों को प्राप्त होना ही इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य है।

सामान्यतः खाद्य सुरक्षा को अवधारणा देश की समग्र जनसंख्या के लिये खाद्यान्नों की न्यूनतम मात्रा की उपलब्धता से सम्बन्धित है। विश्व विकास रिपोर्ट के अनुसार देश के सभी व्यक्तियों के लिए समय पर एक सक्रिय एवं स्वस्थ जीवन के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्धता को खाद्य सुरक्षा की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। कोई राष्ट्र खाद्यान्नों के उत्पादन के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उस राष्ट्र के निवासियों को प्रत्येक समय पर्याप्त एवं पोषण की दृष्टि से उपयुक्त मात्रा दीर्घकालीन आधार पर उपलब्ध हो रही हो। खाद्य सुरक्षा की अवधारणा इस तथ्य में निहित है कि समय के साथ बढ़ती जनसंख्या एवं उपभोग की आवश्यकताओं के अनुरुप खाद्य की आपूर्ति समाज के सभी वर्गों को की जा सकें।

खाद्य सुरक्षा के अर्न्तगत अनाज, दालों, दूध, सब्जी एवं फल आदि की उपलब्धि को शामिल किया जाता है। भारत में खाद्यान्नों का उत्पादन पिछले छः दशकों में लगभग पांच गुणा बढ़ गया है किन्तु खाद्य समस्या एवं खाद्यान्नों का आयात भी जारी है। यद्यपि यह आयात विशेष परिस्थितियों में किया जाता है किन्तु इसके बावजूद भी समाज में भुखमरी जैसी गम्भीर समस्या है। इसके साथ–साथ समाज के प्रत्येक वर्ग को खाद्य पदार्थों की उपलब्धि न केवल अपर्याप्त रुप में हो रही है वरन् कम गुण वाले तथा मिलावटी पदार्थों के उपभोग के कारण खाद्य सुरक्षा का वास्तविक अर्थ पूरा नहीं हो पाता। खाद्य समस्या के मात्रात्मक, गुणात्मक पहलू के साथ वितरणात्मक स्वरुप भी

*शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ– 250 004 उ. प्र.।

विद्यमान है जो इस समस्या को और अधिक गम्भीर बना देते हैं। एक गतिशील एवं विकासमान अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों की प्रक्रिया के अर्न्तगत खाद्य सुरक्षा की अवधारणा में भी आवश्यक परिवर्तन आते हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में खाद्य पदार्थों की उपलब्धता के साथ भोजन का सन्तुलित होना भी आवश्यक है। भारत में एक सामान्य व्यक्ति को जो भोजन प्राप्त होता है वह अनेक कारणों से पर्याप्त एवं पौष्टिकता के मानकों को पूरा नहीं करता। वास्तव में खाद्य समस्या का आर्थिक स्वरुप अधिक महत्वपूर्ण है, जो आम जनता की क्रय शक्ति एवं प्रति व्यक्ति आय की अपर्याप्तता से सम्बन्धित है। हाल ही में हुए अध्ययन बताते हैं कि भारत की राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है तथा मध्यम वर्ग की आय में काफी वृद्धि हुई है किन्तु विकास की प्रक्रिया में बढ़ती महंगाई इस उपलब्धि को सही अर्थ प्रदान नहीं करती।

भारत में हमेशा खाद्य सुरक्षा के मुद्दे पर गंभीरता दिखाई गई और यही कारण है कि वर्ष 1966 में श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में हरितक्रांति की शुरुआत हुई। जिस अनुपात से जनसंख्या बढ़ी उसके हिसाब से हमने अन्न भी उपजाया लेकिन भुखमरी खत्म नहीं हुई। हरित क्रांति के बाद सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अन्त्योदय अन्न योजना, अन्नपूर्णा योजना, डीजल सब्सिडी योजना आदि योजनाएं लागू की। इसके अलावा 'काम के बदले अनाज' योजना के माध्यम से गरीबों को राहत देने का प्रयास किया गया फिर भी उम्मीदों के अनुरुप सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसका मुख्य कारण यह था कि इन योजनाओं में कुछ कमियां विद्यमान थी जिससे सरकार अवगत नहीं थी। परिणामस्वरुप खाद्यान्न घोटाले की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए सरकार को खाद्य सुरक्षा कानून बनाने की जरुरत महसूस हुई।

भारतीय संविधान की धारा 47 में यह प्रावधान है कि सरकार लोगों का जीवन स्तर उठाने, आहारों की पौष्टिकता में वृद्धि करने तथा प्राथमिक स्वास्थ्य में सुधार लाने जैसे कार्यों को प्राथमिकता के आधार पर करेगी एवं खाद्य सुरक्षा में पौष्टिक व कैलोरीयुक्त खाद्यान्नों की आपूर्ति स्थानीय स्तर पर उपलब्ध कराएगी। परिणामस्वरुप केन्द्र सरकार ने खाद्य सुरक्षा हेतु अनेक योजनाएं लागू की हैं जिससे कि देश की आर्थिक स्थिति में सुधार हो और खाद्य सुरक्षा संबंधी समस्या भी हल हो सके।

सर्वे में यह बात सामने आई है कि फसल बीमा का लाभ सिर्फ 4 प्रतिशत किसानों तक ही पहुंच पाता है, 57 प्रतिशत किसानों को तो फसल बीमा के बारे में जानकारी ही नहीं है कि फसल बीमा भी कराया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा देश में खाद्यान्न के वितरण एवं रखरखाव की जिम्मेदारी वर्ष 1965 से ही भारतीय खाद्य निगम को सौंपी गई है। यह निगम सामग्री को क्रय करने, भंडारण, वितरण एवं बिक्री की व्यवस्था देखता है। इस निगम के माध्यम से अप्रैल 2011 से पिछड़े जिलों और ब्लॉक में रहने वाले गरीबों, अनुसूचित जाति/जनजाति के परिवारों को हर महीने 3 रुपये प्रति किलोग्राम दर से चावल और 2 रुपए प्रति किलोग्राम की दर से गेहूं उपलब्ध कराया जा रहा है।

परन्तु समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा आज भी खाद्य सुरक्षा के दायरे से बाहर है। सरकार के खाद्य सुरक्षा सम्बन्धी प्रयासों से भी उपेक्षित लाभ नहीं मिल पाया है। वर्तमान सरकारों ने खाद्य सुरक्षा विधेयक लाने एवं पारित कराने को जनता को लुभाने का माध्यम बना लिया है। यदि खाद्य समस्या को वास्तविक रुप में हल करना है तथा खाद्य सुरक्षा के वास्तविक अर्थ को प्राप्त करना है तो सरकार को वितरणात्मक ढांचे में सुधार करने होंगे तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था को

दूर करके खाद्य पदार्थों की आपूर्ति जनसामान्य को पर्याप्त एवं सही रुप में करानी होगी। इसके अभाव में 'खाद्य सुरक्षा विधेयक' के प्रावधानों के अर्न्तगत देश की 67 प्रतिशत जनसंख्या को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने का दावा सार्थक सिद्ध नहीं होगा। सरकार के समक्ष कई महत्वूर्ण चुनौतियां हैं, जैसे बड़ी मात्रा में अनाज की उपलब्धता सुनिश्चित करना तथा उसका उचित भंडारण, वितरण आदि। ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य सुरक्षा, किसान को उसकी उपज के सही मूल्य मिलने से जुड़ी है। इसके साथ ही कृषि क्षेत्र के समग्र विकास पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे खाद्य सुरक्षा की एक सुदृढ़ नींव तैयार की जा सके। खाद्य सुरक्षा विधेयक एवं कानून बनाना ही सरकार के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके पश्चात् इसे सही एवं पूर्ण रुप से क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी सरकार एवं समाज की है। अकुशल प्रबन्धन एवं अव्यवस्था के कारण बर्बाद होने वाले खाद्यान्न एवं खाद्य पदार्थों की पर्याप्त उपलब्धता न होने के बीच उत्पन्न असन्तुलन को दूर करना वास्तव में एक बड़ी चुनौती है। अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य संगठन की एक रिर्पोट के अनुसार भारत में एक वर्ष में जितना अनाज बर्बाद होता है, उतना सत्तर लाख लोगों को दो वक्त का भोजन देने में काम आ सकता है। इन परिस्थितियों में खाद्य सुरक्षा के सही मायने तभी हासिल होंगे जब सरकारी वादों एवं प्रावधानों से वास्तविक एवं व्यावहारिक परिणाम प्राप्त हो सकें।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

'पोषण एवं खाद्य सुरक्षा' संयुक्त राष्ट्र भारत रिपोर्ट 2016।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम 2013।

केन्द्रीय बजट, मार्च 2017।

विश्व विकास रिपोर्ट 2016।

कुरुक्षेत्र, अप्रैल 2016।

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna.2017
वर्ष 3, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2017, पृ. 60–68

भारत में चीनी उद्योग में श्रमिकों की स्थिति व कार्यदशाएं

छाया*

औद्योगिक श्रमिक से अर्थ उन सभी व्यक्तियों से है जो किसी उद्योग में कुशल अथवा अकुशल श्रमिक के रूप में कार्य कर रहे है। यहाँ उद्योग की परिभाषा में सभी प्रकार के उद्योग व कुटीर उद्योग शामिल है लेकिन उन्हीं श्रमिकों को औद्योगिक श्रमिकों में शामिल किया जाता है जो कि संगठित कारखानों में कार्य कर रहे है तथा जिन पर फैक्ट्री अधिनियम लागू होता है। वे श्रमिक जो कुटीर उद्योगों में काम कर रहे है उन्हें औद्योगिक श्रमिक की परिभाषा में शामिल नही किया गया है। श्रमिकों में असंतोष का अर्थ श्रमिकों में अशान्तिपूर्ण स्थिति है जो कि अनेक समस्याओं के कारण उत्पन्न होती है। साधारणतया ये असंतोष मालिक मजदूर के सम्बन्धों के बिगड़ने से उत्पन्न होते है। असंतोष एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसका परिणाम दिखलाई पड़ता है। असंतोष से श्रमिक अपने कार्य से असन्तुष्ट रहता है और इसलिए पर्याप्त व अच्छे किस्म का उत्पादन नहीं कर पाता। अतः श्रमिक असंतोष से अन्त में मालिकों को भी हानि ही होती है।

भारत में चीनी उद्योग

भारत विश्व में गन्ने की खेती और चीनी के मूल गृह के रूप में अच्छी तरह से जाना जाता है। चीनी का उत्पादन गन्ने से किया जाता है। इसकी खोज हजारों साल पहले की गयी थी। भारत और दक्षिण–पूर्व एशिया में इसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। भारत की पौराणिक कथाएं इस तथ्य का समर्थन करती है कि इसमें अनेक किवदंतियां शामिल है जो कि गन्ने की उत्पत्ति को दर्शाती रही हैं। आज ब्राजील के बाद भारत गन्ने का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है। भारत लम्बे समय तक गन्ने को दबाकर रस निकालने और क्रिस्टल प्राप्त करने की प्रक्रिया के बाद गुड व इससे अन्य उत्पाद प्राप्त करने वाला पहला देश था। 1840 में डच ने उत्तरी बिहार में सफेद चीनी उत्पादन के लिए पहली चीनी निर्माण कम्पनी की स्थापना की थी परन्तु भारत में औद्योगिक इकाई के रुप में पहली चीनी मिल की स्थापना ब्रिटिश काल में उत्तर प्रदेश में 1903 में उप–उष्णकटिबंधीय बेल्टों में स्थापित कुछ वैक्यूम वैन इकाइयों के साथ एक सामान्य गन्ना कुचल क्षमता के साथ स्थापित किया गया था। 1930 तक भारत में 30 चीनी मिलों की स्थापना की जा चुकी थी। जब आधुनिक चीनी उद्योग की स्थापना

*शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ– 250 004 उ. प्र.।

की गई थी, तो इसे फैक्ट्री की सफेद चीनी से तीव्र प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। अतः भारत में भी पहली बार गन्ने का उपयोग गन्ने का रस निकालकर इससे क्रिस्टल प्राप्त करने की प्रक्रिया द्वारा सफेद चीनी का उत्पादन शुरू हो गया। प्रारम्भिक काल में (1930 के लगभग) 2/3 गन्ना उत्पादन का इस्तेमाल गुड और खांडसारी के उत्पादन के लिए किया जाता था। बाद में जीने के बेहतर मानक और उच्च आय के कारण मिठास की मांग सफेद चीनी मे स्थानांतरित हो गयी है।

1930 के दशक में भारत में आधुनिक चीनी प्रसंस्करण उद्योग का आगमन हुआ जो चीनी उद्योग को टैरिफ संरक्षण देने से शुरू हुआ था। वर्ष 1930–31 में चीनी मिलों की संख्या 30 से बढ़कर 135 हो गई, जिसमें 100000 मिलियन टन चीनी का उत्पादन हुआ और उन्हें जापानी चीनी से प्रतिकूल प्रतिस्पर्धा मिली जो भारतीय बाजार पर शासन कर रहा था और 1935–36 के वर्षों मे निजी क्षेत्र के गतिशील नेतृत्व के तहत 1.20 लाख टन से 9.34 लाख टन उत्पादन बढ़ गया था।

सरकारी नीति द्वारा रखी गयी शर्तों के कारण उत्पादन का स्तर दीर्घ अवधि के लिए स्थिर नहीं था। भारतीय चीनी उद्योग का विकास एक संगठित रूप में हुआ, जब भारत सरकार ने 6 अप्रैल 1948 को औद्योगिक नीति प्रस्ताव पारित किया, उसके बाद औद्योगिक अधिनियम 1956 के सहयोग के सिद्धान्त ने देश के आर्थिक विकास की एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। वर्ष 1950–51 में औद्योगिक विकास के लिए योजना का युग शुरू हुआ। 1950–51 के वर्ष में चीनी के 139 कारखाने थे जिनमें से तीन सहकारी मिलें और 136 संयुक्त स्टॉक कम्पनियाँ थी। 1951 में उद्योग अधिनियम व पंचवर्षीय योजना लागू करने के कारण तेजी से आर्थिक विकास हुआ। सरकार ने भारत में चीनी उद्योगो को बढ़ाने के लिए कई कदम उठाए। 1951 के अधिनियम ने दो महत्वपूर्ण बदलाव लाए। 1952 के बाद लाइसेंस प्राप्त क्षमता का एक बड़ा हिस्सा उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंन्ध्र प्रदेश और केरल में गया। सरकार ने सहकारी समितियों को प्रोत्साहित किया और इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की गई। उत्तर भारतीय राज्यों में निजी अमीर उद्योगपतियों द्वारा अधिकांश नई मिलों की स्थापना की गई थी। उनके पास न केवल गन्ना खेतों का स्वामित्व है अपितु वे छोटे किसानों से गन्ना भी खरीदते हैं, इन अमीर मिल मालिकों द्वारा छोटे किसानों का शोषण होता है।

औद्योगिक श्रमिकों पर हुए सामान्य अध्ययन

अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर, हेलन आई. सफा (1975) ने अपने लेख ''लैटिन अमेरिका मैं श्रमिक वर्ग की महिलाओं में वर्ग–चेतना'' शीर्षक से प्यूरिटीकों में एक वैयक्तिक अध्ययन किया जिसमें उन्होंने पाया कि सामान्यतः महिलाओं के कार्यों को द्वितीयक माना जाता है उनके घरेलू श्रम को अनोत्पादक माना जाता है। इसलिए सर्वहारा की चेतना के निर्माण में महिला श्रमिकों की वर्ग–चेतना महत्वपूर्ण नहीं है। सनदरा जे0 कोयेनर (1977) ने अपने लेख ''वर्ग–चेतना एवं उपभोग'' में जर्मनी के वीमर रिपब्लिक का अध्ययन किया और पाया कि वर्ग–चेतना नये सामाजिक वर्गों का निर्माण करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। रोसेटा मॉज कोहेन (1998) ने एक निजी शिक्षा संस्थान''स्थिम कॉलेज मारनल हॉल नॉट हेपटन'' का अध्ययन किया व उसने वर्ग–चेतना और इसके परिणाम सम्बन्धी अपने पेपर में अभिजात शिक्षा का प्रभाव श्रमिक वर्ग की महिलाओं पर देखा और इस अध्ययन में पाया गया कि अधिकतर सहभागियों ने सफलता को सामाजिक गतिशीलता के सन्दर्भ में नहीं देखा। वूरनकॉग (1993) ने अपने लेख ''ट्रेड यूनियन वर्ग चेतना और प्रेक्जिस'' का अध्ययन किया उन्होंने अपने शोध पत्र मे साक्षात्कार पद्धति से तथ्य एकत्रित किये और अपने अध्ययन में पाया कि

ट्रेड यूनियन और वर्ग–चेतना के बीच गहरा सम्बन्ध है। बारटोकी लिबूनी लारा और लूसियाना ऑरेज सेरिनो (2012) ने ब्राजील में गन्ना उद्योग के सामाजिक पर्यावरणीय प्रभाव का द्वितीयक स्त्रोत से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य यह देखना था कि उद्योग के विकास के साथ सामाजिक और पर्यावरणीय सन्तुलन भी कायम रहे। यह शोध प्रकट करता है कि गन्ने की फसल सामाजिक और पर्यावरणीय प्रभाव को बनाये रखने में सहायक है।

भारत में हीथ और विजय जोशी (1976) ने अधिशेष श्रम के बारे में बम्बई में एक अध्ययन किया था। उन्होंने सुझाव दिया कि रोजगार सृजन और संसाधनों के पुनः वितरण की दिशा में आर्थिक नीति में प्रमुख संशोधन कर तकनीकों, उत्पादों गतिविधियों का उपयोग करके श्रम को प्रोत्साहित करने के लिए सकारात्मक कदम उठाए जाएगे। पी0सी0 गोस्वामी और सी0के0बोरा (1970) ने अपने अध्ययन में पाया कि श्रमिक की अधिकता की समस्या भूमिहीन और अकृषि क्षेत्रों से जुड़े परिवारों में ज्यादा थी उन्होंने सुझाव दिया कि बहुकृषि और कुछ अन्य आर्थिक गतिविधियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक रोजगार उत्पन्न कर सकती है। विनोद कुमार मेहता (1968) ने ''स्वतंत्रता के बाद से भारत में राज्य और श्रम एक समाजशास्त्रीय अध्ययन', जो चार औद्योगिक केन्द्रों बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और अहमदाबाद पर सरकारी प्रकाशनों के तथ्यात्मक और विश्लेषणात्मक आंकड़ो पर आधारित है, में यह दिखाने का प्रयास किया है कि ''भौतिक असुरक्षा की क्षतिपूर्ति करने के लिए मजदूर सांत्वना के लिए धर्म और अंधविश्वास का सहारा लेते है, वे सब कुछ का औचित्य सिद्ध करने के लिए कर्म के दर्शन की ओर बढ़ते है, इस प्रकार राज्य द्वारा प्रस्तुत आधुनिकीकरण, कार्यात्मक विकल्प प्रदान करने या पुराने संस्थानों को बदलने के लिए बहुत कमजोर है''। कुँज पटेल (1962) ने मुम्बई के परेल इलाके के रत्नगिरि ग्रामीण इलाकों में से 15 गांवों के 200 परिवारों में रहने वाले 500 कपड़ा कामगारों का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि कपड़ा उद्योग के लिए रत्नगिरि के निवासी लगभग श्रम शक्ति का एक अतुलनीय स्त्रोत रहे है परन्तु श्रमिकों में नौकरी के प्रति एक सामान्य रवैये से उनमें एक समग्र निराशा की भावना विकसित होती है। वहीं ग्रामीण इलाकों में खराब आर्थिक स्थितियों ने उन्हें इस शहर की समृद्धि के लिए मुम्बई में रोजगार करने के लिए मजबूर किया। जी0के0 ठक्कर ने (1960) ने ''कपड़ा उद्योग की श्रम समस्या' का अध्ययन किया। उन्होनें मुम्बई शहर में विभिन्न आकार के 15 कपास मिलों की श्रमिक समस्याओं का अध्ययन किया। श्रमिक समस्याओं का गहन अध्ययन करते हुए उन्होंने कहा कि सभी उद्योगों में स्वतन्त्रता के बाद कई महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं जैसे कि भर्ती, प्रबंधन, कानूनी ढांचे, ट्रेड यूनियनवाद, विवादों के निपटारे के लिए मजदूरी और मशीनरी का निर्धारण करने की विधियां और इन परिवर्तनों ने उद्योग की श्रमिक समस्याओं को पूरी तरह से नया रूप दिया है जिससे श्रम का अच्छी तरह से प्रबंधन होता है। एन.आर. सेठ ने जुलाई 1956–जुलाई 1958 के मध्य गुजराती राज्य के राजनगर जिले में ''ओरिएंटल'' नामक एक कारखाने मे श्रमिकों का एक सामाजिक अध्ययन किया। उन्होंने कहा कि ''यह माना जाता है कि पारंपरिक संस्थान आर्थिक विकास के रास्ते में बाधा है लेकिन ओरिएंटल के अध्ययन से पता चलता है कि सभी मामलों में ऐसा नहीं है इसलिए इन समाजों में भी औद्योगिक समाज के मूल्य विकसित होने लगते हैं जिससे कि समाज के पारम्परिक और तर्कसंगत मानदण्डों के बीच का अंतर पैदा होता है। सुषमा विष्णी और भरेस, के0 आर0 शाह (2007) ने अपने लेख ''कॉरपोरेट प्रदर्शन पर कार्यशील पूंजी प्रबंधन नीतियों का प्रभावः एक अनुभवजन्य अध्ययन'' में यह बताया है कि पारंपरिक रूप से यह देखा

गया है कि अगर कोई कंपनी बड़ा मुनाफा और नुकसान के लिए अधिक जोखिम लेने की इच्छा रखती है तो इसकी बिक्री के सम्बन्ध में इसकी कार्यशील पूंजी के आकार में कमी आती है। यदि यह उसकी तरलता में सुधार करने में दिलचस्पी रखता है, तो यह अपने कार्यशील पूंजी के स्तर को बढ़ाता है। हालांकि इस नीति के परिणामस्वरूप बिक्री की मात्रा में कमी आने की सम्भावना है। इसलिए एक कंपनी को तरलता और लाभप्रदता के बीच एक संतुलन चाहिए।

भारत में चीनी उद्योग के श्रमिकों पर हुए अध्ययन

खुशबु सिंह और वेनिशा पंडिता आदि (2015) ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के चीनी मिलों में काम कर रहे उत्पादन लाइन श्रमिकों और प्रशासन कर्मचारियों की मुख सम्बन्धी स्वास्थ्य स्थिति का आकलन करने के लिए चीनी मिल कारखाने के 600 कर्मचारियों का मल्टीस्टेज दैव निदर्शन पद्धति से चयन किया और पाया कि चीनी मिल कारखाने के श्रमिकों के मौखिक स्वास्थ्य से समझौता किया जाता है जो मुख्य रूप से अपने काम के समय और मौखिक स्वास्थ्य के महत्व के बारे में कम जागरूकता स्तर के कारण कार्य के दौरान चीनी धूल के सम्पर्क के कारण हो सकता है अतः मिल श्रमिकों को मुख सम्बन्धी स्वच्छता की आदतों और स्वच्छता रखरखाव के बारे में शिक्षित करने की आवश्यकता है इसके अलावा सरकार के साथ मिल मालिकों को भी नियमित रूप से स्क्रीनिंग और दंत उपचार कैपों के आयोजन के लिए दंत चिकित्सा संस्थानों के साथ मिलकर सक्रिय रूप से कार्य करना चाहिए। इसके अलावा, फैक्ट्री परिसर के भीतर दंत चिकित्सा क्लिनिक की स्थापना वर्तमान परिदृश्य में स्पष्ट रूप से सुधार कर सकती है। गणेष सालुन्के (2015) ने ''सहकारी चीनी मिल महाराष्ट्र के कार्य पर्यावरण और इसके कार्य संन्तुष्टि पर प्रभाव'' का अध्ययन किया। इस अध्ययन से पता चलता है कि कार्यस्थल पर्यावरण कर्मचारियों के लिए उपयुक्त है व चीनी उद्योगों में कर्मचारियों की नौकरी के प्रति सन्तुष्टि को काफी प्रभावित करता है। अनुप यादव और रेणु दत्ता (2014) ने हरियाणा की पानीपत चीनी मिल का भूमिगत जल (पीने के पानी) के भौतिक रासायनिक गुणों पर पर होने वाले प्रभाव का दैव निदर्शन के द्वारा अध्ययन किया तथा यह पाया कि चीनी मिल के 10 किमी0 के क्षेत्र में पानी के पैरामीटर अनुमन्य सीमा से ज्यादा बढ़ चुके थे जो मानवीय स्वास्थ्य के लिए चुनौती है। आदित बी. कुचनर (2013) ने द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित एक वैयक्तिक अध्ययन द्वारा महाराष्ट्र में गन्ना उद्योग की सम्पूर्ण तकनीकी प्रदर्शन का अध्ययन किया व महाराष्ट्र में 2012–13 से 2019–20 तक के काल खण्ड में गन्ना उद्योग के सम्बन्ध में सतत् तकनीकी प्रदर्शन पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। जिससे यह स्पष्ट होता है कि उद्योगो में तकनीकी प्रदर्शन की स्थिरता चीनी उद्योग के विकास से महत्वपूर्ण रूप से जुड़ी है। रामन्ना रेड्डी और हरि प्रसाद रेड्डी (2012) ने चुनिंदा चीनी उत्पादन इकाइयों के लिए ''जेड स्कोर मॉडल'' की वित्तीय स्थिति पर एक लेख लिखा व निष्कर्ष निकाला कि चीनी उद्योग एक कृषि आधारित विनिर्माण उद्योग है इसका वित्तीय प्रदर्शन न केवल इसकी वित्तीय गतिविधियों पर निर्भर करता है बल्कि जलवायु परिस्थितियों पर भी होता है। इनके विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि चलितता का काम कर रहे पूंजी कारोबार की दक्षता और चित्तूर सहकारी चीनी लिमिटिड प्रूडेंशियल चीनी कॉपेरेशन लि0 और श्री. वेंकटेश्वर सहकारी चीनी कारखाने लि0 की योग्यता की स्थिति अच्छी नहीं है इनका जेड–स्कोर का विश्लेषण खराब वित्तीय प्रदर्शन को दर्शाता है जिसमें चित्तूर की सहकारी चीनी मिल दिवालिया हो रही है। हालांकि जेड़ स्कोर वर्ष 2004 से 2010

के रूझाानों में वृद्धि कर रहा था, यह दर्शाता है कि कंपनी को वित्तीय प्रदर्शन के बारे में पता चलने पर इसको बढ़ाने के लिए सुधारात्मक उपायों को ले लिया गया।

मार्टिना आर. नोरोन्हा और दिलीप सिंह ठाकोर (2012) ने दक्षिण गुजरात में चीनी कारखानों की वित्तीय व्यवहार्यता के मामले का एक वैयक्तिक अध्ययन किया और यह बताया कि गन्ना सबसे अधिक बहुमुखी फसल है जो चीनी मिलों को अपने उत्पादों में विविधता लाने के लिए जबरदस्त क्षमता प्रदान करती है। प्रौद्योगिकीय ज्ञान में प्रगति ने चीनी उद्योग में गन्ने के कई उपयोगों के लिए क्षमताएँ खोल दी है और अब इसे ऊर्जा के तरल ईंधन, बिजली उत्पादन या सहगमन, कागज और अक्षय ऊर्जा के अक्षय संसाधनों की तरह कई उत्पादों जैसे कागज, कागज बोर्ड, प्रोटीन खाद्य पदार्थ और पशु आहार, जैविक रसायनों, जैव खाद्य और चीनी के लिए कच्चे माल के रूप में देखा जा सकता है। अतः गन्ने की वास्तविक कीमत केन्द्र सरकार द्वारा तय वैधानिक न्यूनतम कीमतों की तुलना में कहीं अधिक होती है। चीनी उद्योग की प्राकृतिक वृद्धि के लिए गन्ने की कीमतों को वसूली प्रतिशत आदि के आधार पर तय किया जाना चाहिए जो उन्होंने हासिल किया है। इससे गन्ने की लागत कम करने में मदद मिलेगी यह मिलों को गन्ने की आपूर्ति की गुणवत्ता मे सुधार करने में भी मदद करेगी। अतः यह मौसम के दौरान कुचल के समान मात्रा की मदद से चीनी उत्पादन में वृद्धि करेगा। इसलिए राज्य की व्यवस्था को गन्ने की कीमतों को आवश्यक रुप से तार्किक बनाये जाना चाहिये, जो भारतीय चीनी उद्योग के गुणात्मक विकास के लिए आवश्यक है। आर. अगयर्केनी (2010) ने दक्षिण भारतीय चीनी कंपनियों में कार्यरत वित्तपोषण के प्रबन्धन का अध्ययन किया व पाया कि चीनी उद्योग प्रौद्योगिकी उन्नयन के महत्वपूर्ण प्रभाव पर जोर देता है और किसानों, निर्माताओं और सरकारों को विभिन्न उत्पादन पर आधारित सुझाव प्रदान करता है। एस0एस0राजू, पी0 सिनोज ओर पी0के0जोशी (2009) ने वर्ष 2008–2009 में द्वितीयक आंकड़ो का प्रयोग करते हुए जैव ईंधन के सतत् विकास की सम्भावना और चुनौतियों का अध्ययन किया व पाया कि चीनी उद्योग से भारत और अमेरिका में सामाजिक व आर्थिक लाभ हुआ है यह शोध प्रदर्शित करता है कि जैव ईंधन खाद्य सुरक्षा, सामाजिक कल्याण और पर्यावरण को प्रभावित करता है। राहुल कुमार (2007) ने अपने चीनी उद्योग अध्ययन के विश्लेषण के आधार पर बताया कि उद्योग को एक अप्रिय अवधि का सामना करना पड़ रहा है न केवल चीनी उद्योग, अपितु लगभग पूरा कृषि उद्योग ही मुश्किल समय का सामना कर रहा है। सी0एम0 जवालगी और यू0एम0 भूसी (2007) ने भारतीय चीनी उद्योग के अध्ययन से यह बताया कि ग्रामीण विकास पर असर डालने के लिए गन्ने और चीनी का क्षेत्र भारतीय कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण हिस्से है। चीनी उद्योग ने खुद को ग्रामीण विकास का एक नाभिक साबित कर दिया है खासकर उसने आस–पास के क्षेत्रों में और स्वंय के लिए राष्ट्रीय कंपनी में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारतीय चीनी उद्योग का प्रदर्शन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कारकों पर निर्भर करता है। अध्ययन में चीनी उद्योग के वर्तमान राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर और प्रदर्शन पर उनके प्रभाव पर चर्चा की गयी है। इसके अलावा यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो वास्तविकता का कारण देखने को छोड़ता है और सामाजिक तकनीकी प्रणाली के गतिशील व्यवहार की जांच के लिए मात्रात्मक साधनों का और उनकी प्रतिक्रिया नीति का भी उपयोग करता है। एस0 बेंनी बसवाराज (2007) ने अंर्तराज्यीय चीनी कारखाना क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन किया है व सूक्ष्म उत्पादक राज्यों की औसत दक्षता रैकों की तुलना उनके सापेक्ष शक्कर उत्पादक राज्यों की पहचान के लिए अपने औसत तकनीकी दक्षता स्कोर के आधार पर की है। पर्यावरणीय विश्लेषण मॉडल का उपयोग करते हुए अध्ययन ने सूक्ष्म उत्पादन

वाले राज्यों की पहचान की और पता चला कि बिहार 12.28 प्रतिशत तमिलनाडू 10.22 प्रतिशत, पंजाब 8.52 प्रतिशत, कर्नाटक में 6.12 प्रतिशत, उत्तरांचल 5.89 प्रतिशत, हरियाणा में 5.54 प्रतिशत, छत्तीसगढ़ 3.15 प्रतिशत, मध्य प्रदेश 3.27 प्रतिशत, उडीसा 1.95 प्रतिशत और गोवा 1.27 प्रतिशत चीनी उत्पादन के साथ दिए गए इनपुट के जरिए बढ़ा सकता है।

हरीश दामोदारन और हरवीर सिंह (2007) ने उत्तर प्रदेश में चीनी उद्योग का अध्ययन किया इस अध्ययन का उद्देश्य उत्तर प्रदेश में क्षेत्रीय प्रारूप तथा चीनी उद्योग का उद्विकास था। इस अध्ययन के लिए 1951 ई0 में द्वितीयक स्त्रोतों से डाटा संकलन किया गया जो भारतीय चीनी उद्योग समिति नई दिल्ली और उत्तर प्रदेश गन्ना आयुक्त कार्यकाल लखनऊ से लिया गया। इस शोध से प्रमाणित होता है कि राज्य में समकालीन समय में उद्योगो में निवेश बढ़ा है तथा रोजगार एवं आय के अवसर ग्रामीण क्षेत्र में पहुंचे है।

जे0 जिवरनाथम (2006) ने गन्ने के माध्यम से समृद्धि का अध्ययन किया और कहा है कि अगर गन्ने की खेती वैज्ञानिक आधार पर और चीनी मिलों की आपूर्ति के आधार पर की जाती है, तो यह किसानों के लिए बहुत लाभदायक है। उन्होंने सुझाव दिया कि चीनी मिलों को गन्ने की खेती पर किसानों का आवश्यक मार्गदर्शन करना चाहिए व गन्ने की गुणवत्ता वाले बीज साम्रगी की आपूर्ति, वैज्ञानिक आधार पर सांस्कृतिक कार्यों को पूरा करने और फसल काटने व न्यूनतम मूल्य की व्यवस्था करनी चाहिए। संघमित्रा दास और दिलीप मुखर्जी (2005) ने भारतीय चीनी उद्योग में स्वामित्व और संविदात्मक अक्षमता का अध्ययन किया और अध्ययन मे अलग–अलग स्वामित्व या प्रबन्धन वाले भारतीय चीनी कारखानों द्वारा गन्ना की खरीद में विकृतियों के सम्पर्क के साक्ष्य की जांच की गई तथा पाया कि दो सबसे बड़े चीनी बनाने वाले भारतीय राज्य उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र सम्बन्धित गन्ना मूल्य विकृतियों, गन्ना गुणवत्ता, तकनीकी परिवर्तन और चीनी की कीमतों में बदलाव के प्रभाव में उत्पादक किसानों के हित डूब जाते हैं। डॉ0एस0डी0 टालेकर (2005) ने अपने अध्ययन ''कार्यकारी पूंजी का प्रबन्धन'' में मराठा क्षेत्र में चीनी मिल के सामाजिक, राजनीतिक प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने 1991 से 2001 के बीच 14 चीनी मिलों से आंकडे संकलित किये। उनका यह शोध प्रमाणित करता है कि महाराष्ट्र में सहकारी चीनी उद्योग, ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक, राजनीतिक सम्बन्धों को सीमित करता है। आर0एन0 गवाड़े (2004) ने अपने अध्ययन ''भारत में सहकारी गन्ना संकट एवं नीति विकल्प'' में तर्क प्रस्तुत किया कि सहकारी गन्ना फैक्ट्रियों के सतत् विकास के लिए गन्ने की पूर्ति एवं पर्याप्त मात्रा आवश्यक है उनके अनुसार इसके लिए गन्ने की पेराई सत्र के 180 दिन तक उपलब्धता होनी चाहिए इसलिए प्रत्येक सहकारी चीनी मिल के कृषि विभाग को गन्ना उत्पादन क्षेत्र में गन्ना उगाने में महत्वपूर्ण रूचि लेनी चाहिए उन्हें गन्ने की खेती के लिए सहकारी सिंचाई का विकास करना चाहिए व गन्ने की खेती के लिए सिंचाई की आधुनिक तकनीकों जैसे टपक सिंचाई, स्पिरिंकल आदि का प्रयोग करना चाहिए। बी. बी. माने और एच. एन. पाटिल (2002) ने ''मंजरा सहकारी चीनी कारखाने के प्रभाव'' का अध्ययन किया और बताया कि मंजरा चीनी कारखाने ने लाभार्थियों के खेतों पर पूंजी निर्माण पर सकारात्मक प्रभाव पैदा किया और चीनी कारखानों के कमान क्षेत्र के बाहर स्थित अपने समकक्ष किसानों की तुलना में इसी तरह कारखाने द्वारा किसानों को ऊँची कीमत देकर उनकी आय के स्तर में समुचित वृद्धि की गयी व किसानों को कृषि के मैकेनाइजेशन में निवेष करने के लिए प्रेरित किया गया ताकि खेती का संचालन समय पर किया जा सके और

जोरदार फसलों के विकास के लिए अनुकूल स्थिति हो सके। शंकर सिद्धार्थ (2001) ने शाहबाद सहकारी चीनी मिल्स लिमिटिड में प्रबन्धकीय अभ्यास का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि सहकारी चीनी मिलों में प्रबंन्धकीय प्रथाएँ चल रही हैं जैसे कि शेयरधारकों की उदासीनता और सरकार के अनावश्यक अनुमान के साथ प्रबन्धकों की प्रतिनियुक्ति, कम संगठनात्मक छवि आमतौर पर समग्र खराब प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार है। इसके अलावा, सहकारी चीनी मिलों को एक सच्चे सहकारी व्यापार उद्यम से सरकार के रूप में चलाने की तरह दिखते है। एस. सी. लहरी (1995) ने अपने अध्ययन ''चीनी संकुल एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था'' मे तर्क प्रस्तुत किया कि चीनी संकुल को देश में प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है चीनी संकुल न केवल चीनी कारखानों की आर्थिक स्थिति को मजबूत करते है बल्कि ग्रामीण भारत में आंतरिक रोजगार के अवसर भी पैदा करते है, बायोगैस और गुड़ आदि चीनी मिलों के महत्वपूर्ण उत्पाद होते है तथा बायोगैस व कागज के उत्पादन आदि में एक महत्वपूर्ण अक्षय संसाधन है। ए0 जोशी (1989) ने अपने लेख में बताया कि उत्तर प्रदेश में पिछले कुछ दशकों से उद्योग विभाग संरचनात्मक परिवर्तन से गुजर रहा है। यह केवल उद्योगों में ही नहीं बल्कि गन्ना उद्योगों में भी हो रहा है। एस. एन. भट्टाचार्य (1980) ने अपने अध्ययन ''भारत में ग्रामीण औद्योगिकीकरण'' में प्रदर्शित किया कि गन्ना उद्योग और कृषि परस्पर सम्बन्धित है व ग्रामीण क्षेत्रों में गन्ना उद्योग की स्थापना ने ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवजन को घटाया है तथा गन्ना उद्योग ने रोजगारों के अवसर पैदा किये है तथा किसानों को बिचोलियों से बचाया है और किसानों की क्रय क्षमता में वृद्धि की है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययनों से स्पष्ट है कि भारत में चीनी उद्योग एक कृषि आधारित विनिर्माण उद्योग है इसका कुशल प्रबन्धन न केवल इसकी वित्तीय गतिविधियों पर निर्भर करता है अपितु जलवायु परिस्थितियों का भी इस पर प्रभाव पडता है। गन्ना एक कृषि उत्पाद है जो भारत के विभिन्न राज्यों में विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में उगाया जाता है। अतः चीनी उद्योग में इसका उपयोग चीनी के अतिरिक्त अन्य विभिन्न उत्पादों के लिए भी किया जाता है। इसका महत्व किसानों के लिए एक कैश फसल के रुप में किया जाता है जो उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति को सुदृढ करने में सहायक होता है परन्तु यह उद्योग विभिन्न प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है। इनमें से एक राज्य सरकार द्वारा न्यूनतम मूल्य निर्धारण की समस्या है। इसका निर्धारण वैज्ञानिक व तार्किक आधार पर किये जाने की आवश्यकता है। साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र की चीनी मिलों के प्रबन्धन में भी समुचित सुधार करने की आवश्यकता है। अध्ययनों से पता चलता है कि चीनी मिलों के आस–पास भूमिगत जल में प्रदूषण की मात्रा में बढ़ोतरी देखी गयी है। साथ ही गन्ने के अवशेष को जलाने से भी प्रदूषण उत्पन्न होता है। श्रमिकों में स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं भी पायी गयी हैं। अतः इन सभी कारकों पर सुस्पष्ट नीति बनाने व उसको कार्यान्वित करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

सिंह, खुशबु और वेनिशा पंडिता आदि 2015: ''क्या चीनी मिल श्रमिकों के ओरल हेल्थ में समझौता किया जा रहा है?'' *जे. क्लिन. डायग्न. रिस.*, जून।

यादव, अनुप और रेणु दत्ता 2014: ''आसपास के क्षेत्र के भूजल के भौतिक रासायनिक विशेषताओं पर चीनी मिल का प्रभाव'', *पर्यावरण विज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय अनुसंधान पत्रिका,* खण्ड 3, नं0 6, पेजः 62–66

कुचनूर, आदिति बी. 2013: ''तकनीकी प्रदर्शन का विश्लेषणः महाराष्ट्र में गन्ने उद्योग का एक व्यैक्तिक अध्ययन'', *एशियाई जम्मू प्रबंधन,* जुलाई – सितम्बर खण्ड 4, नं0 3, पेजः 205–222

रेड्डी, एन.वी.आर. रामना और हरि प्रसाद रेड्डी 2013: ''चयन गन्ना निर्माण इकाइयों की वित्तीय स्थितिः जेड़ स्कोर मॉडल'', इन्टरनेशनल जरनल आफ एजुकेशन एण्ड रिसर्च, अंक 1, खण्ड 1, जनवरी।

नोरोन्हा, मार्टिना आर. और दिलीप सिंह ठाकोर 2012: ''दक्षिण गुजरात में चीनी कारखानों की वित्तीय व्यवहार्यता एक वैयक्तिक अध्ययन'', *इन्टरनेशनल जरनल आफ मल्टीडिसिपनलीनरी रिसर्च,* अंक 2, खण्ड 2, पेज 387–399।

लिबूनी, लोरा बारटोकी और लुसियाना ऑरेज सेरिनो 2012: ''गन्ना उद्योग का सामाजिक और पर्यावरणीय प्रभाव'' *शोध अनुसंधान पत्रिका प्रवृत्तियां और रणनीतियां,* खण्ड 4, नं0 5, पेजः 1–27।

अंगयर्कैनी, आर. 2010: ''*दक्षिण भारतीय चीनी उद्योग में चयनित चीनी कंपनियों में कार्य वित्त का प्रबन्धन*'' अप्रकाशित पी0एच0डी0 थीसिस, भहरीर विश्वविद्यालय, कोयम्बटूर।

राजू, एस. एस. और पी. सिनोज आदि 2009: ''जैव ईधन के सतत् विकास संभावनाएँ और चुनौतियाँ'', *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक* खण्ड 44, नं0 52, दिसम्बर जनवरी पेज, 65–72।

दामोदरन, हरीश और हरवीर सिंह 2007: ''उत्तर प्रदेश में चीनी उद्योग चावल गिरावट और पुनरूद्धार'', *आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक* सितम्बर, पेजः 3952–3957.

जिवरनाथ, जे, 2006: ''गन्ने के माध्यम से समृद्धि,'' *किसान विश्व,* खण्ड 3, नं0 4, पेजः 29.

करीमूला, आशा, एस, 2006: ''चीनी उद्योग के लिए आर्थिक विकास'', *किसान विश्व,* अप्रैल खण्ड 33, नं 4 पेजः28

दास, संघमित्रा और दिलीप मुखर्जी 2004: ''स्वामित्व ओर संविदात्मक अक्षमताः भारतीय चीनी उद्योग में सहकारी व निजी फैक्टिरियो के कार्य निष्पादन की तुलना'', Indian Statistical Institute, Delhi, Planning Unit, Discussion Paper 04-06, April, 2004.

टालेकर, एस डी, 2005: *कार्यशील पूँजी का प्रबंधन,* खोज प्रकाशन, नई दिल्ली, पेजः 25

गवाडे, आर, एम, 2004: ''भारत और नीति विकल्पों मेंः चीनी सहकारी समितियों का संकट'' अर्थशास्त्र विभाग के ओस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत पेपर, अप्रैल, पेजः 4–5

माने, बी0बी0 और पाटिल, एच0एन0 2002 : ''पूँजी निर्माण पर एक सहकारी चीनी कारखाने पर मंजरा का असर'' जुलाई।

शंकर, सिद्वार्थ 2001: ''प्रबंधकीय अभ्यास– शाहबाद सहकारी चीनी मिल्स लिमिटिड़ का एक अध्ययन'', शाहबाद निशान भारतीय हरियाणा सहकारी समीक्षा, अक्टूबर।

कोहेन, रोसेटा मॉन 1998: ''अभिजात शिक्षा का प्रभाव'' *अमेरिका रेजूकेन्स जनरल,* खण्ड 35, नं0 3, पेजः 356–375.

लहरी, एस.सी. 1995: ''चीनी परिसरों और ग्रामीण अर्थव्यवस्था'', *योजना,* खण्ड 39, नं0 4, पेज–25–30

वूरनकॉग 1993: ''ट्रेड यूनियन वर्ग चेतना और पेजिक्स''

जोशी, ए0 1989: ''उत्तर प्रदेश में पिछले कुछ दशकों से उद्योग विभाग में संरचनात्मक परिवर्तन'', *ग्रीक इन्स्टयूट ऑफ डवलपमेन्ट स्टीडीज,* खण्डः 6, नं0 3,

भट्टाचार्य, एस0एन0, 1980: *भारत में ग्रामीण औद्योगिकीकरण,* नई दिल्लीः बी0आर0 प्रकाशन हाउस।

कोयेनर, सनदरा जे0 1977: ''वर्ग चेतना एंव उपभोग'', जनरल ऑफ सोशल हिस्ट्री, खण्डः10, पेजः 310–331

जोशी, हीथर और विजय जोशी 1976: *अधिशेष श्रम और शहरः बॉम्बे का एक अध्ययन,* नई दिल्लीः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज–172.

सफा, हेलन आई. 1975 : ''लैटिन अमेरिका की श्रमिक वर्ग की महिलाओं की वर्ग चेतनाः प्यूरिटो रिको का एक व्यैक्तिक अध्ययन'' *पालिटिक्स एण्ड सोसायटी,* वाल्यूम 5, अंक 3, पेज 377– 385।

गोस्वामी, पी0सी0 और सी0के0 बारा 1970: ''ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिकों की मांग'' खण्ड 25 नं0 3, पेजः 52–64.

मेहता, विनोद कुमार 1968: *आजादी के बाद भारत में राज्य और श्रम एक समाजशास्त्रीय अध्ययन,* अप्रकाशित पी.एच.डी. थिसिस विश्वविद्यालय बॉम्बे, पेजः 519.

पटेल, कुंज 1963: ''औद्योगिक बॉम्बे में ग्रामीण श्रम'', बाम्बेः पापुलर प्रकाशन, पेजः 1–24.

ठक्कर, जी0के0 1962: *कपड़ा उद्योग की श्रम समस्या,* वोरा, पेज–9.

सेठ, एन.आर. 1968: *एक भारतीय कारखाने का सामाजिक ढांचा,* मानचेस्टरः मानचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस।

हमारे अन्य प्रकाशन

Emerging Trends in Devcelopment Research (ETDR)

An Interdisciplinary Peer-Reviewed Research Journal

published since 1994

The ETDR has been rated as A1 Refereed Journal by International Evaluation of Research and Doctoral Training at the University of Halinski in RC-Specific Tuhat Compilations of Publications Data 2005-2010.

Editor: Prof. Virendra P. Singh

Books

Network, Education and Mobility in Legal Profession (2002)
by Virendra P. Singh

Social Mobility among Professionals of Bangalore City (2008)
by Deepthi S.

मुस्लिम परिवारों में समाजीकरण (2006)
लेखिका : मंजू गोयल

खाकी में नारी (2014)
लेखिका : मधु सिसोदिया

For details
Contact: +919235608187; etdrpub1994@gmail.com

फार्म 'बी'

सम्पादक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
अवधि	:	छःमाही
प्रकाशन का स्थान व पता	:	इलाहाबाद–18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
स्वामी का नाम, राष्ट्रीयता व पता	:	प्रो. वीरेन्द्र पाल सिंह भारतीय 18, बैंक रोड, इलाहाबाद, 211 002
लेजर टाइप सैटिंग	:	ई.टी.डी.आर. कम्प्यूटर्स सी–28, पल्लवनुरम, फेस प्रथम, मेरठ–250110
मुद्रक का नाम व पता	:	साहिल प्रिंट मीडिया, 256, मोहन पुरी, मेरठ